तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

जब तक महा बलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं; इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है ।

सदाचार ।

सत् कहने से सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा और आचार कहने से आचरण; आत्मा का यानी ज्ञानी पुरुष का जो आचरण है वह सदाचार है। आत्मा का और आचरण का स्पष्ट निरूपण करने की विद्या का नाम सदाचार है। यह छोटा प्रकरण ग्रन्थ श्रीमच्छङ्कराचार्य का किया हुआ है यह आद्यशंकराचार्यकृत है अथवा शंकराचार्य की गद्दी पर बैठे हुए किसी का बनाया हुआ है इसका निर्णय नहीं होता, मुमुक्षुओं को उपयोगी जान कर इसका विवेचन किया जाता है।

सच्चिदानंद कंदाय,
जगदंकुर हेतवे।
सदोदिताय पूर्णाय,
नमोऽनंताय विष्णवे ॥ १ ॥

अर्थः—सत् चित् और आनन्द स्वरूप जगत् अङ्कुर का हेतु उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे है, जो सदा प्रकाश स्वरूप है, पूर्ण है, अनंत है, ऐसे विष्णु को नमस्कार है।

विवेचन।

ग्रन्थारंभ में मंगलाचरण किया जाता है यहां सच्चिदानन्द शब्दोच्चारण मात्र से ही मंगल की सिद्धि है, अनंत ऐसे विष्णु को नमस्कार रूप प्रथम श्लोक होने से मंगल है।

अनंत ऐसे विष्णु को नमस्कार करके झुकने वाला मुमुक्षु पुरुष इस ग्रन्थ का अधिकारी है। सच्चिदानन्द विषय है अनंत की प्राप्ति फल है और अनंत की प्राप्ति कराना इस ग्रन्थ का संबंध है।

सृष्टि के पूर्व काल में जो सत् हमेशा रहने वाला भ्रांति रहित ज्ञान अज्ञान से दूर रहा हुआ मात्र एक परब्रह्म है वह सत्य है। लौकिक सत्य गुण होता है और माया में होता है। पारमार्थिक सत्य स्वरूप है यह परब्रह्म है जो सृष्टि के पूर्व में था वह सृष्टि के उत्पत्ति काल में भी वैसा ही है। सृष्टि के आधार में नाम रूप वाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं, इनमें भी ब्रह्म वैसा ही है। पांच भूत से सब प्राणी की उत्पत्ति होती है जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज यह चार खानि हैं इनमें से सबकी उत्पत्ति होती है। प्राणी उत्पन्न होकर विकारी और नाश वाले होते हैं इससे चंचल हैं उसमें चंचलता से न दीखने वाला सत स्वरूप परब्रह्म है। पांच भूतों से उत्पन्न होने वाले पदार्थों का पंच भूत सहित बाध करने से पंच भूत और उसके आश्रय रहे हुए नाम रूप का बाध हो जाता है, पश्चात् विवेक-विचार

द्वारा शेष रही हुई वस्तु परब्रह्म ही है, जो शरीर को और शरीर की तीनों अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होता, अवस्था के विकार से विकारी नहीं होता, देश, काल, और वस्तुके भेद से भेद वाला नहीं होता, वह प्रकाश वाला, हमेशा स्थिर रहने वाला सत् स्वरूप आत्मा ब्रह्म है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लयमें सृष्टि के पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और लयमें और अनेक प्रकार के उनके विकारों में जो एकसा ज्योंका त्यों रहता है वह सत्य है ऐसे सत् को समझना।

चित्, चैतन्य को कहते हैं लोग जिसे चैतन्य कहते हैं वह विशेष चैतन्य है उसमें विशेषत्व माया का है। यह चैतन्य न्यूनाधिक होने वाला और उत्पत्ति नाश वाला है उसमें रहा हुआ अखंडित त्रिकालाबाधित चैतन्य ही चित् है। जैसे सत् परब्रह्म स्वरूप है ऐसे चित् भी परब्रह्म स्वरूप है, चित् सत् से अभिन्न है। मायिक चैतन्य भासमान और अभासमान है ब्रह्म चैतन्य अखंड है, मायिक चैतन्य में से माया का बाध करने से जो सामान्य तत्त्व रहता है वह चिद्रूप ब्रह्म है।

खुले नेत्र से मायिक चैतन्य दीखता है परन्तु नेत्र बंद करने से, मानसिक भाव का त्याग करने से जो कुछ अनुभव में आता है वह ब्रह्म चैतन्य है। ब्रह्म की सर्वज्ञता है क्योंकि सब होते हुए सबको जानता है सबके लय को देखता है और स्वयं प्रकाश है ऐसा स्वयं प्रकाश चिद्ब्रह्म है। सब वृत्तियों के नाश में सुषुप्ति अवस्था को जानने वाला स्वयं ज्योति है, यह ज्ञाता चिन्मूर्ति वृत्ति के अभाव को देखता है, वृत्ति का अभाव मायिक है इससे मान-

सिक ज्ञान से उनका नाश होता है, मानसिक ज्ञान के नष्ट होने में केवल साक्षी रहता है वह चिद्रूप है। जब लौकिक ज्ञान का लय होता है तब साक्षी अपने अनुमान से अपने को समझ सकता है. और वृत्ति ज्ञान के लय को भी समझ सकता है, वह चिद्रूप सत् से पृथक् नहीं है।

जब दुःख का पूर्ण अंत होता है तब हमेशा एकसा रहने वाली अवस्था ही आनंद है इस आनंद को ही ब्रह्मानंद कहते हैं। दुःख सुख के अभाव में जो स्वरूप स्थिति है वह ही निजानंद है, निजानंद में ही अखंड आनंद है। लौकिक आनंद उत्पत्ति नाश वाला और दूसरे के सहारे होता है और निमित्त से नाश को भी प्राप्त होता है, दुःख की अपेक्षा से सुख है और सुख की अपेक्षा से दुःख है इसीसे मायिक है, विकारी है और ब्रह्मानंद विकारी नहीं है, अपेक्षा रहित है, अपना स्वरूप भूत है। जैसे भौतिक सत सत नहीं है भौतिक चित्त चित् नहीं है तैसे भौतिक आनंद आनंद नहीं है। वास्तविक सत्य तो लौकिक "है" और "नहीं है" दोनों से विलक्षण है, दोनों का प्रकाशक है और दोनों का आधार है। वास्तविक चित् तो जड़ और चैतन्य जो लौकिक हैं इनसे विलक्षण है, जड़ चैतन्य दोनों का प्रकाशक और उनका आधार है। इसी प्रकार लौकिक आनंद भी वास्तविक आनंद नहीं है। सुख दुःख से विलक्षण दोनों का प्रकाशक और दोनों का आधार है। जो सत् है वही चित है और जो सत चित् है वही आनंद है यह तीनों का एक ही स्वरूप है। सर्वदा स्थिर रहने वाला सत् है,

अलुप्त प्रकाश चित् है और स्वरूप स्थिति आनंद है, विकारियों में भी विकार से रहित अखंड एक रस है जिसमें आदि अंत नहीं है वह आनंद है, जो सबको अपना आप है वह ही आनंद स्वरूप है।

शंका:—सृष्टि के पूर्व में ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं था परंतु सृष्टि की उत्पत्ति से भेद होता है, भेद से ही एक तत्त्व में जीव और ईश्वर की उत्पत्ति होती है, यह भेद सजाति भेद है। ब्रह्म, जीव और ईश्वर चैतन्य हैं और उनमें भेद होने से सजाति भेद है। चेतन के सामने जड़ है इसीसे जड़ चेतन का भेद विजाति भेद है और सत् स्वरूप के स्फुरण में अपने आप में भी भेद की प्रतीति होती है। इसी प्रकार परब्रह्म सृष्टिकाल में भेद युक्त है। भेद सब अंत वाले का होता है तब भेद युक्त ब्रह्म चैतन्य अनंत किस प्रकार है ?

समाधान:-जिस प्रकार आइने में मुख देखते हैं तब मुखसे आइनेका मुख भिन्न ही दीखता है तैसे माया और अविद्यासे ईश्वर और जीव भिन दीखते हैं, यह भिन्नता माया और अविद्या कृत उपाधि से मिथ्या भास मात्र है परन्तु सत्य स्वरूप तो एक रस ब्रह्म ही है। परब्रह्म स्वगत, स्वजाति और विजाति भेद से रहित है। ब्रह्म सब काल में परिच्छेद रहित अखंड है, ब्रह्मस्वरूप सिवाय कोई भी अन्य वास्तविक तत्त्व नहीं है। जो देखने में आते हैं वे अवश्य नाश को प्राप्त होते हैं वे सब अपूर्ण हैं, पूर्ण की सत्ता लेकर भासने वाले हैं और पूर्ण तो एक परब्रह्म ही है। जैसे मृग तृष्णा का जल दीखने का मुख्य कारण सूर्य है तैसे ही जगत् रूप तमाशे के

दीखने का मुख्य कारण अधिष्ठान ब्रह्म है। सृष्टिकाल में जगत् दीखता है परन्तु लय होने के बाद जगत् दीखता नहीं है। सृष्टि का आधार ब्रह्म है, आधार बिना जगत् दीखता नहीं है। तैसे ही उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण भी अधिष्ठान ब्रह्म है।

माया जगत् का सूक्ष्म बीज है, साम्यावस्था वाली त्रिगुणात्मक माया पीढ़ है और वह ही सत, रज और तमोगुण रूप विस्तार को प्राप्त होती है, पंचभूत उसकी शाखा हैं, स्थावर जंगम आदि कोंपलें हैं, सुख दुःख रूप फल हैं। इस प्रकार माया बीज का क्रम है। फल का भोक्ता जीव है, जिसका सच्चा और झूठा ऐसा नाम है वह सब प्रपंच इस संसार रूप वृक्ष का है, जगत् रूप के कारण में अहं स्फुरित होता है वह ही माया है, वह स्वरूप के आधार बिना नहीं होती। यदि कोई कहे कि माया का अर्थ है कुछ न होना, कुछ है नहीं और भासता है वह किस प्रकार हो सकता है ? उसका उत्तर यह है कि अधिष्ठान ब्रह्म होने से भास हो सकता है। ब्रह्म सत्य है वस्तु स्वरूप है और सर्वत्र व्यापक है। सत स्वरूप चित्त से दीखता नहीं है परन्तु अस्ति, भाति, प्रिय रूप से विचार करने से जाना जाता है इस प्रकार के व्यापक ब्रह्म को ही विष्णु कहते हैं। पदार्थ के नाश के बाद उसकी व्यापकता दीखती नहीं है इसी से व्यापकता आदि लक्षण आगंतुक लक्षण कहलाते हैं, इस तरह ब्रह्म को जानना चाहिये उसके पहिचानने में ये लक्षण मदद रूप हैं।

सब स्थान में प्रकाश वाला उदित और सब तरफ से सब काल में पूर्ण होने से पूर्ण कहा जाता है, वह कभी भी अपूर्ण नहीं होता, उसे अपूर्ण करने के लिये

कोई समर्थ नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा व्यापक विष्णु स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ। माया और माया के कार्य में सिर का झुकना-नमन करना माया के अधीन होना है और व्यापक परब्रह्म—विष्णु में सिर का झुकना—उसके भाव से युक्त होना अपने व्यक्ति भाव का अभाव करना कल्याण को करने वाला है। सच्चिदानंद पूर्ण अनंत इन लक्षणों द्वारा लक्षित परब्रह्म के स्मरणपूर्वक आचार्य उसमें झुकते हैं और सबको झुकने का उपदेश देते हैं।

सर्व वेदान्त सिद्धान्त,
ग्रथितं निर्मलं शिवम्।
सदाचारं प्रवक्ष्यामि,
योगिनां ज्ञान सिद्धये॥ २॥

अर्थः—सब वेदान्त का सिद्धान्त रूप और जो कल्याण कारक निर्मल तत्त्व से पूर्ण है, योगियों को ज्ञान देने वाला है, ऐसे सदाचार नामक ग्रन्थ को कहता हूँ।

विवेचन।

इस ग्रन्थ का नाम सदाचार है इसमें रहा हुआ सत् शब्द आत्म स्वरूप है, आचार शब्द क्रिया रूप है आचार का अधिकारी मुमुक्षु अज्ञानी है, ज्ञाता पार अपार होने से उसमें क्रिया का सम्भव नहीं है। जिसकी ज्ञान में प्रवृत्ति है उसे क्रिया कुछ काम नहीं आती इसीसे ज्ञाता

(जानने वाले) की उसमें निवृत्ति कही जाती है। सद्गुरु जैसे परिपूर्ण है तैसे ही ज्ञाता अपने स्वरूप के विषे अपने को परिपूर्ण समझता है और उसे आचार (व्यवहार) के विषे भी ध्येय और ध्यान ही होता है इसलिये सिद्धि के लक्षण साधक सिवाय अन्य को कहना व्यर्थ है।

वेद और उपवेद आदि शास्त्रों में महावाक्य का अर्थ परिपूर्ण अन्तर्यामी है उसीको ही वेदान्त कहते हैं, वेद के अन्तिम रहस्य का नाम वेदान्त है। वेदान्त में ब्रह्म है वह ही निश्चय आत्मा है वह ही कल्याण है वह ही निजरूप स्थिति है, उसको माया, अविद्या और जगत् का आरोप लगता नहीं है और अहंकार आदि दोष भी लगता नहीं है इसीसे उसे निर्मल कहा है। वेदान्त सिद्ध ज्ञान से ही योग की सिद्धि होती है।

शंकाः—जिसका लौकिक लक्षण नहीं है वह ही ज्ञानी होना चाहिये, वह पूर्ण समाधि में होना चाहिये और अधिकार के जितने विशेषण उसमें लगाये जांयगे उसमें अवश्य दोष होगा।

समाधानः—हठयोग और मंत्र, जप, तप आदि शुभ प्रवृत्ति वाले और तीर्थ यात्रा में भ्रमण करने वाले ज्ञान के अधिकारी नहीं है इसी तरह वेदाध्ययन करने वाले, व्याकरणको पढ़ने वाले गर्व और इच्छा वाले को ज्ञान के श्रवण से भी आत्म हित नहीं होता। काम्य वस्तु का त्याग किया परन्तु नित्य नैमित्तिक कर्म में लगे हुए को ज्ञान का अधिकारी न समझना चाहिये क्योंकि क्रिया के न्यूनाधिकत्व में भी अभिमान रहता है इसीसे श्रवण,

मनन से भी लाभ प्राप्त नहीं होता। जो सब प्रकार से तीनों प्रकार के तापों को छोड़ बैठा है वह ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है क्योंकि उसे सब मिथ्या लगता है और उसका निश्चय एक सत्य वस्तु की प्राप्ति में ही है। 'धन को देख कर मिट्टी के समान जानता है, उस पर मनका आकर्षण नहीं होता, मन से अहं भाव और तृष्णा को छोड़ा ही है, स्वप्न में भी जाग्रत की सत्यता का भान नहीं होता, विषय वासना का त्याग किया है, विवेक करके इन्द्रियों का दमन किया है, प्रारब्ध के सुख दुःख को निरभिमान होकर सुख दुःख के भाव रहित भोगता है, वेदान्त श्रवण पर प्रीति रखकर स्वानुभव से ऊहापोह को उत्पन्न करके अर्थ में चित्त लगाता है' आदि जिसके लक्षण हों वह ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी है। ऐसे अधिकारियों को सुलभ विचार और सद्गुरु की कृपा से परमपद की प्राप्ति होती है। प्रातःस्मरण, शौच, संध्या, जप, तप, तर्पण, अग्नि होत्र, अर्चन, मौन इत्यादि ज्ञानी को नाम मात्र से भिन्न हैं तो भी भिन्नता के विवेक रूप विचार से निदिध्यासन रूप हैं इस प्रकार ज्ञाता का समाधान होता है। यह ही उसकी अखंड समाधि है; वाह्य में लौकिक के समान लक्षण दीखते हुए भी आंतर में अभाव रहता है अधिकारी के लक्षण अधिकारी में होते हैं, स्वरूप स्थिति वाले को उनकी आवश्यकता न होने से दोषारोपण नहीं है। वेद में अधिकारी के दो भेद दिखलाये हैं। जिसका चित्त अशुद्ध है उसको चित्त की शुद्धि पर्यंत वैदिक कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये और कर्म उपासना द्वारा जिसका चित्त शुद्ध हुआ है उसको

कर्म को छोड़कर ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार दो मार्ग हैं जिसका अंतःकरण शुद्ध हुआ है उसको कर्म में अरुचि होती है और जिसको उपदेश से भी आत्मज्ञान नहीं होता उसको शुद्धि के निमित्त गायत्री मंत्र का जप करना चाहिये।

प्रातः स्मरामि देवस्य,
सवितुर्भर्ग आत्मनः।
वरेण्यं तद्धियो यो न-
श्चिदानंदे प्रचोदयात् ॥ ३ ॥

अर्थः—मैं आत्मरूपी सूर्य के तेज का प्रातःकाल में स्मरण करता हूँ जिससे कि वह हमारी बुद्धि को चिदानंद में प्रेरित करे।

विवेचन।

स्वप्रकाश देव सब की उत्पत्ति करने वाला होने से उसका सविता नाम है। सब को दहन करने का स्वभाव होने से भर्ग ऐसा नाम है। प्रातःकाल कहने से अज्ञान रूप अन्धेरे का अन्त और ज्ञान सूर्य के प्रकाशने का समय है। सूर्य का उदय और अस्त होता रहता है इसी प्रकार ज्ञान सूर्य का भी अस्त होगा ऐसी भावना विपरीत भावना है क्योंकि सूर्य का उदय अस्त नहीं है। नेत्र से उदय अस्त दीखता है कारण कि पृथ्वी के एक तरफ सूर्य प्रकाश करके दूसरी तरफ प्रकाश करता है, जब दूसरी तरफ प्रकाश करता है तब सूर्य अपने नेत्र के सामने नहीं होता, अन्धेरा

होता है उसको रात्रि कहते हैं और फिर जब सूर्य दीखता है तब दिन-प्रातःकाल कहते हैं यह भेद अस्तोदय नाम की कल्पना से है, इसी प्रकार जिसने आत्मा जाना नहीं है तिसको अज्ञान है परंतु अनुभव से जब आत्म ज्ञान होता है तब उस स्थिति को प्रातःकाल कहते हैं। आत्मा को ज्ञान अज्ञान नहीं है जीव देहाभिमान से ज्ञान अज्ञान की कल्पना करता है। ज्ञाता जब ज्ञान में समर्थ होकर अज्ञान को नष्ट करके सब काल ज्ञान स्थिति में रहता है और काल को भी जानता नहीं है क्योंकि विचार से तिसमें ज्ञान का उदय हमेशा रहता है तब ऐसे ज्ञाता को प्रातःकाल नहीं है। जो बुद्धि को प्रेरित करता है वह आत्मा असंग निर्विकार शरीर की तीनों अवस्था में व्याप्त सब का प्रकाशक कूटस्थ है। जैसे आकाश सब में रहा हुआ होकर भी किसी में लेपायमान नहीं होता तैसे वृत्ति आदिक सब में रहकर भी आत्मा अलिप्त है।

बुद्धि वृत्ति से क्रीड़ा उत्पन्न होती है और तीनों अवस्था की प्राप्ति भी बुद्धि से ही है। क्रीड़ा प्रभाव वाली जाग्रत अवस्था के संस्कारों को मिश्रित करके स्थूल रूप में दिखलाने वाली है, आन्तर स्वप्नावस्था है और बुद्धि की विश्रान्तिरूप तीसरी सुषुप्ति अवस्था है। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि अपने कारण अविद्या में विलीन होती है। बुद्धि को प्रेरणा करने से आत्मा विकारी होगा ऐसा न समझना चाहिये क्योंकि बुद्धि में अपनी चेतनता नहीं है, बुद्धि कर्म स्वरूप और जड़ कहलाती है। माया, आत्मा और

बुद्धि दोनों पर परदा करती है इसीसे विरुद्ध भाव होकर आत्मा अचेतन और बुद्धि चेतन मालूम होती है जीव में चेतनता दीखती है और माया में भी चेतनता दीखती है यह क्रिया आदि से मालूम होती है।

शंका:—आत्मा विकार रहित होने से प्रेरणा नहीं कर सकता और स्वयम् चेष्टा नहीं करता, बुद्धि ही चेष्टा करती है तब बुद्धि को प्रेरणा करने वाला कैसे है ?

समाधान:—आत्मा चेष्टा नहीं करता परन्तु उसकी सामान्य सत्ता स्फूर्ति द्वारा बुद्धि विकार वाली चेष्टा को करने में समर्थ होती है इससे बुद्धि का प्रेरक और बुद्धि का मालिक आत्मा है। बुद्धि एक निमित्त रूप है उसका सायनभूत मन, इन्द्रियां, प्राण और शरीर आदि भी हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन और बुद्धि यह १७ तत्त्व से आत्मा की सत्ता में चेष्टा होती है, इसी से बुद्धि का प्रेरक आत्मा को कहा है।

जिसके योग से मन मनन आदि कल्पना करता है परन्तु उस अधिष्ठान को मन जान नहीं सकता, प्राण जिसकी सत्ता से चलता है उस सत्ता को विकारी नहीं कर सकता, आंख जिस सत्ता से देखने को समर्थ होती है और जिसे देखने को असमर्थ है वह परब्रह्म है। इसी प्रकार सब इन्द्रियां अपने अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं परन्तु उसके अधिष्ठान को जान नहीं सकतीं उसे परब्रह्म समझना चाहिये। सब सूक्ष्म व्यवहार जीव सहित होता है जीव उसको सच्चा मानता है। उत्पत्ति, स्थिति

और लय अधिष्ठान में होते हैं ऐसे सब लिंगों के समुदाय का नाम हिरण्यगर्भ है, यह हिरण्यगर्भ जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, और लय आदि अधिष्ठान की सत्ता से करता है। वृत्ति उत्पन्न होकर विषयाकार होती है और अधिष्ठान में समाप्त होती है उसी का नाम अज्ञान है, ऐसा होने का कारण चिदानंद है जो बुद्धि वृत्ति को जाग्रत अवस्था में विषयाकार करता है, स्वप्न में संस्कार के रूप को धारण कराता है सुषुप्ति में अभाव रूप करता है और समाधि में आनंदमय करता है वह परब्रह्म है वह ही बुद्धि का प्रेरक है वह स्वप्रकाश आत्मा है जिसका भर्गादि ऐसा लक्षण है, जो तीनों काल में समान रहता है, ऐसा देव सब के उत्पत्ति अन्त को जानता है, इससे चिद्रूप है जो सब को उत्पन्न करने वाला है जिससे सब संसार फैलता है उस परमात्मा को सविता कहते हैं। जो माया, अविद्या, जीव, शिव आदिक जगत् भ्रम नाम रूप को भस्म करके अस्ति भाति ही वास्तविक है ऐसा ज्ञान कराता है इसीसे भर्ग कहलाता है। ब्रह्मानंद का सुख सर्वोत्तम है, श्रुति निरतिशय आनंद का कथन करती हैं और वह आनंद स्वतः सिद्ध है इसीसे वरेण्य कहलाता है। इस आनंद के सिवाय अन्य आनंद नहीं है जो उस आनंद को प्राप्त होता है उसे तद्रूपता निश्चय होती है, वह तैजस है। इस श्लोक में आत्मा शब्द को गायत्री मंत्र की अपेक्षा अधिक युक्त किया है क्योंकि उसका परब्रह्म से अभेद है और वह परिपूर्ण है। आत्मा बुद्धि का प्रेरक, सब में व्याप्त सद्रूप, एक ही देव चिद्रूप से प्रकाशित है वह जगत् का हेतु सविता है। भर्ग शब्द नाम रूप का बाध

करके निरतिशय आनंद को देता है इससे वरेण्य कहलाता है। यह भर्ग इसका (आत्मा का) अंग लक्षण और वरेण्य स्वभाव लक्षण है अंग लक्षण नाम रूप का बाध करके निरतिशय आनंद देता है और स्वभाव लक्षण स्वाभाविकता से ही आनंद स्वरूप है इससे सविता भर्ग का प्रेरक है इस लक्षण से परब्रह्म की परिपूर्णता जानने में आती है, जीव और शिव वस्तुतः एक ही है, आत्मा ही परमात्मा है ऐसा महावाक्य का लक्ष्यार्थ है।

अन्वय व्यतिरेकाभ्यां,
जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिषु।
यदेकं केवलं ज्ञानं,
तदेवाहं परं बृहत् ॥ ४ ॥

अर्थः—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में से अन्वय व्यतिरेक द्वारा शेष रहा जो शुद्ध ज्ञान स्वरूप है वही परब्रह्म मैं हूँ ॥ ४ ॥

विवेचन।

अन्वय का अर्थ है सम्बन्ध और व्यतिरेक का अर्थ है अभाव। सम्बन्ध वाले को पकड़ते जाना और सम्बन्ध रहित को छोड़ते जाना इस प्रकार तीनों अवस्था में करने से अवस्थातीत आत्मा का बोध होजाता है। अन्तःकरण की वृत्ति इंद्रियों द्वारा विषय में प्रवृत्त होती हैं जिससे प्राणी मात्र को सुख दुःख उत्पन्न होते हैं; इंद्रियां जगत् के विषय में प्रवृत्त होती हैं, तब उस अवस्था

को जाग्रत अवस्था कहते हैं। बुद्धि जाग्रत अवस्था के संस्कारों से आंतर में विषय का प्रत्यक्ष करती है और जिसमें सुख दुःख का भान भी होता है, ऐसी अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं और जब बुद्धि अपने कारण अविद्या में लीन होकर पूर्ण विश्रान्ति लेती है जिस समय एकता में दुःख का लेश भी नहीं होता उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं।

जाग्रत अवस्था में जगत् का व्यवहार ज्ञान सहित होता है, जगत् का व्यवहार स्वप्न में नहीं होता इसीसे स्वप्न में जाग्रत के व्यवहार का व्यतिरेक है, जैसे जाग्रत में ज्ञान होता है ऐसे स्वप्न में ज्ञान होता है इसीसे स्वप्न में ज्ञान का अन्वय है। स्वप्नावस्था में आन्तर संस्कार से खड़े हुए विषयों का प्रत्यक्ष होता है और ज्ञान होता है। सुषुप्ति में आंतर विषय का प्रत्यक्ष नहीं है इससे आंतर विषय का सुषुप्ति में व्यतिरेक है और अभाव का ज्ञान है इसीसे ज्ञान का सुषुप्ति में अन्वय है। इसी प्रकार तीनों अवस्था के कार्य एक दूसरे में नहीं होते, एक अवस्था दूसरी अवस्था को झूठी ठहराती है एक अवस्था के उदय में दूसरी निवृत्त हो जाती है और ज्ञान का तो सब के साथ सम्बन्ध है। ज्ञान सब अवस्था में, सब काल में एक है, अखंड है, अद्वय है; यह ज्ञान ही आत्मा है।

ज्ञाता को स्वानुभव से ध्येय का बोध हो वह ही समाधि कहलाती है, आत्मा ही प्रत्यगात्मा है, आत्मा ही परब्रह्म है। बाल, युवा, तरुण और वृद्ध शरीर की अवस्था हैं, बढ़ती घटती हैं

उत्पन्न होकर नाश को प्राप्त होती हैं परन्तु उसमें रहा हुआ पुरुष तो वह का वह ही है; तिससे लक्षणा वृत्ति से तीनों अवस्था में अनुस्यूत एक आत्मा है उसका भेद नहीं है वह ही ज्ञान स्वरूप परिपूर्ण ब्रह्म है ऐसा अनुसंधान हमेशा करना चाहिये। स्वस्वरूप के बोध सहित जाग्रत रहना चाहिये, उसके स्मरण सहित नींद लेना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करने से निःसंशय अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है। कभी भी विस्मरण न करके अपने स्वरूप का आप ही ज्ञाता होना चाहिये यह साधक का मुख्य कर्तव्य है।

ज्ञानाज्ञान विलासोऽयं,
ज्ञानाज्ञाने च पश्यति।
ज्ञानाज्ञाने परित्यज्य,
ज्ञानमेवावशिष्यते ॥५॥

अर्थः—यह जगत ज्ञान और अज्ञान का विलास है यह कुछ ज्ञान और कुछ अज्ञान की अवस्था में भासता है। ज्ञान और अज्ञान दोनों का त्याग करने पर केवल ज्ञान स्वरूप ही शेष रह जाता है।

विवेचन।

ब्रह्मांड में जो कुछ दीखता है और उसमें जो कुछ व्यवहार होता है वह सब नाटक के तमाशे के समान है। एक एक दृश्य

उपस्थित हो होकर मिट जाता है और नया २ दृश्य आकर खड़ा होता है इस प्रकार यह जगत् का प्रवाह चल रहा है इसीका नाम विलास है। खेल करना, कूदना, नाचना सब तमाशा रूप यह संसार विलास है, यह सब विलास होते हुए भी अज्ञान के कारण से जीव उसे तमाशा न मान कर सच्चा ही मानता है और जन्म जन्मांतर को प्राप्त होकर दुखी होता रहता है।

जगत् और जगत् का ज्ञान, अज्ञान और विपरीत ज्ञान कहा जाता है। अज्ञान आवरण करने वाला है, आवरण से आत्मा का यथार्थ बोध नहीं होता तब इससे विक्षेप होकर चंचलता पैदा होती है, इसीसे अनात्म, आत्म रूप से दीखने लगता है यही विपरीत ज्ञान होता है। आवरण शक्ति से अबोध और विक्षेप शक्ति से विपरीत ज्ञान होता है। अज्ञान की आवरण शक्ति तमोगुण रूप है और विक्षेप शक्ति रजोगुण रूप है। स्वरूप का बोध न होना अज्ञान है और विपरीत ज्ञान भी अज्ञान का ही स्वरूप है। जैसे कुछ अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी का यथार्थ ज्ञान न होना रस्सी का अज्ञान है और उसमें रस्सी के बदले सर्पादि का भान होना विपरीत ज्ञान है ये दोनों ही अज्ञान हैं। जगत् का जितना ज्ञान है सब अज्ञान स्वरूप है, अज्ञान से विक्षेप शक्ति सहित बन्धन होता है, अज्ञान ही जगत् और जीवाभास का उत्पत्ति स्थान है। जड़, चैतन्य, स्थूल, सूक्ष्म, लोक, परलोक आदि जितना कुछ दृश्य है सब अज्ञान और अज्ञान का कार्य है।

ऊपर बताये हुए अज्ञान को जो निवृत्त करे उसीका नाम ज्ञान है। स्व-स्वरूप का न जानना अज्ञान है और स्व-स्वरूप का जानना ज्ञान है। जिसका ज्ञान किया जाता है वह ज्ञान स्वरूप अखंड व्यापक और अपरिच्छिन्न है, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की पृथकता से रहित है, ऐसे ज्ञान स्वरूप का ज्ञाता होकर ज्ञान करना बन नहीं सकता इसीसे उसका ज्ञान भी अज्ञान है। जो ज्ञान का विषय नहीं है उसे विषय बनाकर जानना अज्ञान की कक्षा में है; तो भी ज्ञान अज्ञान एक दूसरे से विरुद्ध लक्षण वाले हैं। ज्ञान बंधन को निवृत्त करता है और अज्ञान बंधन को करता है। दोनों एक ही कक्षा के होने से मायिक हैं। ज्ञान शुद्ध सतोगुण वाला कहा जाता है और अज्ञान अशुद्ध अथवा मलिन सत्त्वगुण वाला कहलाता है।

सम्पूर्ण जगत् माया का विलास है यानी ज्ञानाज्ञान में है। जगत् केवल ज्ञान में अथवा केवल अज्ञान में नहीं है, दोनों के मेल में जगत् है जैसे यह जगत् है उसको देखने वाला भी ज्ञानाज्ञान में है क्योंकि एक सत्ता वाले ही का ग्रहण होता है यानी ज्ञानाज्ञान का जगत् ज्ञानाज्ञान से जाना जाता है—अनुभव किया जाता है। आत्मा अपने स्वरूप को भूल कर जब अज्ञान को धारण करता है यानी रजो युक्त सतोगुणी ज्ञान और तमोगुण रूप अज्ञान से युक्त होता है तब ही संसार को देखता है और संसारी होकर संसार के व्यवहार को करता है। वह अपने स्वरूप को भूला है इसीसे "यह संसार विलास रूप है, अर्थात् न होते हुए दिखाई देता है" ऐसा उसको मालूम नहीं होता।

ज्ञान स्वरूप परब्रह्म अखंड है उस प्रकाश में न्यूनाधिकता नहीं होती तो भी उसमें अंधेरे का आरोप करना और आरोप करके अनेकता दिखलाना अज्ञान है। ज्ञान स्वरूप वस्तु रूप है और अवस्तु का भास वस्तु के सहारे होता है यानी अवस्तु आरोपित होने से उसका आधार वस्तु है इसीसे अज्ञान से अवस्तु को वस्तु समझा जाता है यह विपरीत ज्ञान है। अज्ञान ज्ञान स्वरूप के पूर्ण प्रकाश को ढांप नहीं सकता इसीसे उस प्रकाश में अज्ञान और उसके पदार्थों का भास होता है, ऐसे अवस्तु और वस्तु का एकमेक भाव ही सब संसार है।

संसार को सच्चा मान कर ही जीव संसार के बंधन को प्राप्त होता है। संसार और संसार ज्ञान को विलास रूप समझना ज्ञान है ऐसे ज्ञान से संसार बंधन की निवृत्ति होती है। ज्ञान अज्ञान दोनों ही संसार के हैं तो भी ज्ञान अज्ञान को निवृत्त करके स्वयम् भी नहीं रहता; क्योंकि जिस कारण ज्ञान की आवश्यकता थी वह अज्ञान की निवृत्ति रूप कार्य पूर्ण होगया। ज्ञान माया में होने हुए भी उसका विषय यानी जिसका ज्ञान किया जाता है वह मायिक नहीं है, लक्ष से ग्रहण किया परब्रह्म है इससे उसके पूर्ण प्रकाश में ज्ञान अज्ञान दोनों निवृत्त होजाते हैं तब ज्ञान स्वरूप परब्रह्म ही शेष रहता है, वह परब्रह्म ही आत्मा है, क्योंकि आत्मा का परब्रह्म से अभेद है।

अज्ञान और अज्ञान के कार्य विपरीत ज्ञान दोनों का नाश आत्मज्ञान द्वारा होता है और किसी उपाय से दोनों का नाश नहीं

हो सकता। ज्ञानके अभाव में ही अज्ञान था, जैसे अंधेरा। उजाला होते ही नहीं रहता, इसी प्रकार अंधेरारूप अज्ञान आत्म ज्ञान-रूप प्रकाश होते ही नहीं रहता और अद्वैत तत्त्वस्वरूप होने से आत्मज्ञान की पृथक्ता का भी नाश होजाता है। जैसे किसी का हाथ मैल से खराब होगया हो तब वह मृत्तिका से हाथ को साफ करता है, मैल मृत्तिका है और साफ करने वाली भी मृतिका है, मैल मलीन करता है और मृत्तिका साफ करती है। अज्ञान मैल है और ज्ञान साफ करने वाली मृतिका है। मृतिका को शुद्धि के लिये ग्रहण किया था, शुद्धि का कार्य होने के बाद शुद्ध करने वाली मृतिका को भी धो डालते हैं, शुद्धता ही शेष रहती है। इस तरह ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति में शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही शेष रहता है। अथवा जैसे मार्ग में चलते हुए किसी मनुष्य के पैर में कांटा लग कर टूट जाय तब टूटे हुए कांटे को निकालने के लिये वहां सुई, नेहन्नी आदि कोई वस्तु नहीं होने से वहां पड़े हुए दूसरे कांटे को लेकर उससे गड़े हुए कांटे को निकालते हैं। गड़ा हुआ कांटा निकल जाने के बाद गड़े हुए और निकालने वाले दोनों कांटों को फेंक देते हैं; इसी प्रकार अज्ञान की निवृत्ति के बाद ज्ञान को भी छोड़ देते हैं तब सबका आधार अखंड परब्रह्म ही शेष रहता है यह ही सब किसी का अपना आप है, वास्तविक स्वरूप है।

शंका:—ज्ञान और अज्ञान को अविद्या स्वरूप बतलाते हो और अविद्या जड़ है तब ज्ञान और अज्ञान भी जड़ हुए, फिर

उससे संसार और संसार का व्यवहार किस प्रकार हो? चेतनता विना चेष्टा नहीं हो सकती।

समाधानः—ज्ञान और अज्ञान अविद्या का है तो भी उनका आधार चैतन्य स्वरूप होने से क्रिया हो सकती है, सब चेष्टा का हेतु सत्ता स्फूर्ति है। चैतन्य सबका अधिष्ठान—आधार होने से उसकी सत्ता से अचेतन चेतन हों इस प्रकार चेष्टा करते हैं। चैतन्य की सत्तास्फूर्ति, अविद्या और उसके सब कार्यों में सामान्य है, तो भी जहां का पात्र निर्मल होता है वहां चैतन्यता स्पष्ट प्रतीत होती है और मलीन पात्र में अस्पष्ट होती है। इसीसे स्पष्ट सत्तास्फूर्ति को चेतन और अस्पष्ट को जड़ कहते हैं।

वर्तमान काल में रेलगाड़ी और बहुत कारखाने एन्जिन के बल से चल रहे हैं एन्जिन स्वयम् जड़ है उसको कोई भी चेतन नहीं कहता। कोई भी चेतन प्राणी जितना काम कर सकता है उससे अनेक गुणा कार्य वह करता है तो भी कोई उसे चेतन नहीं कहते। इसी प्रकार ज्ञान अज्ञान से कितना ही कार्य क्यों न होय तत्त्वदर्शी पुरुष उनको जड़ ही कहते हैं।

एन्जिन में अग्नि और जल दो मुख्य चीज़ हैं। केवल अग्नि से एन्जिन नहीं चलता और केवल जल से भी नहीं चलता, दोनों एक दूसरे से विरुद्ध स्वभाव वाले होने से दोनों का मेल होना अशक्य है, तो भी परदे सहित दोनों का मेल होता है, इस मेल से अग्नि की उष्णता जल में आकर भाप बन जाती है और उसमें ताकत होती है। उष्णता से जल ही भाप रूप बना है।

अग्नि को चेतन तत्त्व परब्रह्म समझो, और जल को अज्ञान समझो। जल की भाप जो जल रूप है उसे ज्ञान समझो। जैसे अज्ञान और ज्ञान, अज्ञान रूप है, ऐसे ही जल और भाप जल रूप हैं। भाप में जल और उष्णता दोनों हैं यही ज्ञान अज्ञान हैं उनको हटाने से केवल अग्नि स्वरूप परब्रह्म ही शेष रहता है। अग्नि की सत्ता से भाप बनकर कार्य करती है ऐसे परब्रह्म की सत्ता से ज्ञान अज्ञान में सब चेष्टाएं हुआ करती हैं। परब्रह्म ही सब का अपना आप और वास्तविक तत्त्व है।

अत्यंत मलिनो देहो,
देही चात्यंत निर्मलः।
असंगोऽहमिति ज्ञात्वा,
शौचमेतत्प्रचक्षते ॥ ६ ॥

अर्थः—देह अत्यंत मलिन है और देही-आत्मा अत्यंत शुद्ध है, इसलिये मैं असंग हूं ऐसा जानना इसी को शौच कहते हैं।

विवेचन

शेष परब्रह्म को दिखलाकर जिसका त्याग हुआ है ऐसे ज्ञानाज्ञान-अविद्या और उसका कार्य ब्रह्मांड है। ब्रह्मांड शरीर है और शरीर ब्रह्मांड है। शरीर छोटा और व्यष्टिरूप है, ब्रह्मांड बड़ा और समष्टिरूप है, एक शरीर को समझने से ब्रह्मांड समझा

जाता है इसीसे शरीर का वर्णन करते हैं। यह शरीर अत्यंत मलिन है क्योंकि मलिन स्थान से उसकी उत्पत्ति हुई है, मलिन पदार्थों से भरा हुआ है, वर्तमान काल में भी मलिन ही रहता है और मृत्यु में मलिन-अपवित्र होता है, उसको छूने वाले मलिन होने से ही छूकर स्नान करते हैं। स्थूल शरीर, अस्थि, मांस, चर्म, मेद, रक्त, मज्जा, मूत्र, मल और लालादिक से भरा हुआ है, क्षण क्षण में विकार को प्राप्त होता रहता है, अनेक व्याधियों का स्थान है, उत्पत्ति, स्थिति और नाश वाला है। सूक्ष्म शरीर काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर आदि दुःखकर दुष्ट वृत्तियों का होने से अशुद्ध है और कारण शरीर अज्ञान स्वरूप जड़ होने से अपवित्र है इसी प्रकार दोनों शरीर सहित स्थूल शरीर अत्यंत अपवित्र है। शरीर का प्राप्त होना ही अशुद्धि का प्राप्त होना है; अविद्या अशुद्ध होने से अविद्या और अविद्या का कार्य रूप शरीर अपवित्र है; ऐसे शरीर की शुद्धि किसी प्रकार नहीं हो सकती। जो उसे शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं वे मल मूत्र को धोकर शुद्ध करने वाले के समान हैं। शरीर अशुद्ध है और आत्मा अत्यंत निर्मल शुद्ध है ऐसा देखने वाला ठीक ठीक देखता है। आत्मा शुद्ध साक्षी है; शरीर में रहकर भी असंग होने से शरीर की मलिनता आदि दोषों से लेपायमान नहीं होता। जैसे मृत्तिका का घट अशुद्ध पदार्थ भरने से अशुद्ध होता है, परंतु उसमें रहा हुआ आकाश अशुद्ध नहीं होता तैसे देह की मलिनता से देह में रहा हुआ आत्मा मलिन नहीं होता, और जैसे घट को धोकर साफ करते हैं तब उस धोने की क्रिया का स्पर्श आकाश

को नहीं होता वैसे ही शरीर की सफाई का स्पर्श आत्मा को नहीं होता। देह की अशुद्धि का प्रायश्चित्त देही—आत्मा को नहीं है। आकाश सब स्थानों में सब पदार्थों में रहा हुआ है तो भी असंग होने से पदार्थों की मलिनता से मलिन नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा में स्वर्ग नरक बंध मोक्ष और सुख दुःखादि द्वन्द्व नहीं होते। आकाश शुद्ध और असंग है तो भी अविद्या का कार्य होने से जड़ और अशुद्ध ही है और आत्मा तो सत्स्वरूप होने से स्वाभाविक ही शुद्ध स्वरूप है।

आत्मा की शुद्धता का आरोप अविद्या से देह में किया जाता है और अविद्या से शरीर की अशुद्धता का आरोप देही आत्मा में किया जाता है ऐसा अन्योन्याध्यास ही देही-जीव के दुखी होने का कारण है, वास्तव में तो देही शुद्ध है और देह अशुद्ध ही है। जैसे देह अशुद्ध होने से शुद्ध नहीं हो सकता ऐसे देही-शुद्ध स्वरूप आत्मा किसी प्रकार किसी से अशुद्ध नहीं हो सकता।

जब देह से अहं भाव रूप बुद्धि के पाप की निवृत्ति होती है तब ही अखंड निर्मल असंग सब प्रकार से पूर्ण ब्रह्म का स्फुरण होता है, मैं ब्रह्म हूं, सत् हूं, असंग हूं, आनंद स्वरूप हूँ, अवाधित चैतन्य स्वरूप हूं" ऐसा दृढ़ अपरोक्ष आत्म-ज्ञान होना ही पवित्रता है ऐसे ज्ञान से ही शरीरादिक अहं भाव और मम भाव रूप मल का त्याग—शौच हो जाता है। देह में "मैं हूं" ऐसा भाव अपवित्रता है उसका त्याग करके देही जो आत्मा है उसमें "मैं हूं" ऐसा दृढ़ भाव होना पवित्रता है।

मन्मनो मीनवन्नित्यं,
क्रीडत्यानंद वारिधौ ।
सुस्नातस्तेनपूतात्मा,
सम्यग्विज्ञान वारिणा ॥७॥

अर्थः—मेरा मन आनंद के समुद्र में मछली के समान क्रीड़ा करता है इस सम्यक् विज्ञान रूप जल में भली प्रकार स्नान करने से वह शुद्ध हो जाता है।

विवेचन ।

मैं और मेरा इनमें अंतर है, मन को मेरा करके कहा है इस से मैं इससे भिन्न हूं। मैं जो आत्म स्वरूप हूं उसका मन करण है यानी कार्य करने का साधन है। वह हमेशा विषयों की तरफ भटकता रहता था, अज्ञान से मैं उसके साथ सम्मिलित हुआ था इससे उसके किये हुए कार्य का कर्ता भोक्ता बन कर दुखी हुआ करता था, परंतु अब शास्त्र और सद्गुरु की कृपा द्वारा ज्ञान अज्ञान रूप दोनों दृश्य जो अविद्या रूप हैं उनको त्यगता हुआ मन आंतर्मुख होता है, जो मन विषयों की तरफ दौड़ता था वह उलटकर आत्मा की तरफ आया है। आत्मा आनंद स्वरूप है-आनंद का समुद्र है, जैसे बाह्य संसार में क्रीड़ा करता था ऐसे अब आनंद समुद्र में क्रीड़ा करता है।

जैसे मछली की सब क्रियायें जलमें हुआ करती हैं, खाना पीना सोना रहना जन्मना मरना जल ही जल में होता है, जल का त्याग कभी भी कर नहीं सकती जल विना जीती नहीं है, जल के साथ में उसका दृढ़ प्रेम है। साधक कहता है कि मेरा मन मछली के समान आनंद समुद्र में दृढ़ प्रेम करके उसमें ही क्रीड़ा करता है और यह क्रीड़ा अखंडित नित्य होती है। अज्ञान दशा में जैसे दृढ़ प्रेम से अनात्म में विचरता था, क्रीड़ा करता था, ऐसे ही अब आत्मरूप आनंद समुद्र में क्रीड़ा करता है। आत्मा में आनंद ही आनंद है जैसे समुद्र में जल ही जल होता है, अथाह जल होता है ऐसे आत्मा में अथाह आनंद होने से समुद्र की उपमा दी है।

समुद्र में जल होता है इसी प्रकार आत्मरूप समुद्र में विज्ञान रूप जल है। यहां बुद्धि को विज्ञान नहीं कहा है, आत्म अनुभव को विज्ञान कहा है अथवा विशेषता से दृढ़ हुआ तत्त्वज्ञान विज्ञान है उस जल में मन ही स्नान करता है। जल में स्नान करने से मलिनता की निवृत्ति होती है इसी प्रकार आनंद समुद्र के विज्ञान रूप जल में भली प्रकार मल मल के मन को स्नान कराने से, मन आनंद का अभाव यानी दुःख रूप मलीनता को छोड़कर महा पवित्र हो जाता है, अनादि काल से अज्ञान करके मलिनता से मलिनता को प्राप्त हुआ मन पूर्ण पवित्र हो जाता है।

आत्मा स्वस्वरूप से पवित्र होने से उसे पवित्र होने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मन ही अपवित्र है, विषयों में प्रवृत्त

होकर मलिन हुआ है इससे उसको ही पवित्र करना चाहिये। मन में चैतन्य का आभास है, आभास युक्त ही मन कहलाता है ऐसे मन की प्रवृत्ति संसार में होती है। आभास चैतन्य का है इससे उसे चैतन्य की तरफ उलटा देने से आभास की पृथकता नहीं रहती, मन पिघल जाता है और चैतन्य स्वरूप हो जाता है।

मछली जल में रहती है परन्तु जल और मछली पृथक् होते हैं, मन का आनंद समुद्र में विज्ञान जल से पृथक् रहना नहीं होता। जब मन आनंद समुद्र में दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानरूप जल में स्नान करता है, डूबता है तब मन पिघलकर आनंद समुद्र में आनंद रूप ही हो जाता है।

राजपूताने में सांभर नाम की एक खारे जल की झील है, उसमें वर्तमान समय में नमक पकाया जाता है और उस नमक का आसपास के प्रदेश में अधिकता से उपयोग होता है। अब झील में अधिक जल नहीं है तो भी नमक पकाने के उपयोग में आता है वर्षा का जल उसमें भर जाता है, उसका विस्तार अधिक है, उसमें कुत्ते, ऊंट आदिक जानवर मर जाते हैं उनकी हड्डी वहां ही पड़ी रहती है अथवा कोई हड्डी आदिक को फेंकता है वह भी वहां रह जाती हैं। जो कुछ वहां पड़ा हुआ होता है वह सब नमकीन जल में पिघलकर उसका भी नमक बन जाता है। इसी प्रकार आनंद समुद्र के मध्य में अनुभव ज्ञान है उसमें गये हुए आदि पिघल कर आनंद रूप हो जाते हैं।

जब मन आनंद समुद्र में मग्न होता है तब वह आनंद स्वरूप ब्रह्म ही होता है। जिसके मन ने आनंद समुद्र में गोता लगा लिया है वह ही तत्त्वज्ञाता है। सब को देखते सुनते समझते हुए भी सब को ब्रह्मरूप समझता है। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में और अवस्थाओं के व्यवहार को ब्रह्म से भिन्न नहीं समझता, नाम रूप की सत्यता जो दुःख का हेतु थी वह सम्पूर्ण मिथ्या होकर सच्चिदानंद मय ही हो जाने से संसार और संसार के बंधन का निःशेष नाश हो जाता है।

मृतिका, जल, अग्नि और वायु से इस लोक के पदार्थ शुद्ध होते हैं परंतु यह शुद्धि कुछ समय की ही होती है, पवित्र-शुद्ध किये पदार्थ फिर अशुद्ध हो जाते हैं। मन की शुद्धि ऐसी नहीं है मन को अपवित्र करने वाला अज्ञान है उस अज्ञान को विज्ञान जल ने निवृत्त करके मन को शुद्ध किया है वह शुद्धि हमेशा की होती है, अनुभव ज्ञान से शुद्ध हुए को अशुद्ध करने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। तत्त्वज्ञाता पुरुष अनुभव से शुद्ध होकर अभेद भाव को ही प्राप्त हो जाता है।

अब उसके साधन रूप प्राणायाम को दिखलाते हैं।

यथाघमर्षणं कुर्यात्,
प्राणापान निरोधतः।
मनःपूर्णे समाधाय,
मग्नः कुंभो यथाऽर्णवे ॥८॥

अर्थः—प्राण और अपान के निरोध से अघमर्षण करना चाहिये यह मन का निरोध रूप पूर्ण समाधान ऐसा होना चाहिये कि जैसे समुद्र में डूबा हुआ घट हो।

विवेचन।

पापको निवृत्त करने के लिये प्राणायाम करना चाहिये, प्राण अपान के निरोध को प्राणायाम कहते हैं, योगशास्त्रानुसार रेचक पूरक और कुंभक प्राणायाम कहलाते हैं। वायु का बाहर निकालना रेचक है, वायु का भरना पूरक है और वायु का स्थिर रखना कुंभक है। रेचक अपान का होता है, पूरक प्राण का है और कुंभक में प्राण अपान की एकता है। अपान का गमन नीचे है, प्राण का गमन ऊर्ध्व है और कुंभक स्थिर है। प्राणापान की गति में जीवत्व है और कुंभक दोष नाश करके परमपद को प्राप्त कराता है। रेचक पूरक के वारंवार अभ्यास से कुंभक की सामर्थ्य बढ़ती है। कुंभक द्वैत रहित एकता में होने से पाप नाशक है।

जब उपासना के भाव से प्राणायाम करते हैं तब शक्ति का बीज संपूर्ण ब्रह्मांड 'स' कार है और पुरुष बीज 'ह' कार है। सकार अपान स्वरूप नीचे गमन करने वाला है, हकार प्राणस्वरूप ऊर्ध्व गमन करने वाला है और दोनों एकतारूप दोनों का उत्पत्ति स्थान एक रस हंस "मैं हूं" ऐसे प्राणापान के मध्य में समझना। 'स' का 'ह' में लय होता है, 'ह' से 'स' स्वरूप भिन्न नहीं है ऐसे एक करना कुंभक प्राणायाम है, ऐसे कुंभक से अघमर्षण यानी पाप की निवृत्ति होती है।

अथवा, सकार संपूर्ण नामरूप है और हकार अस्ति भाति प्रिय रूप सच्चिदानंद है, उस सच्चिदानंद को 'मैं हूं' करके समझना चाहिये, यह वास्तविक कुंभक है। सकार रूप रेचक से नामरूप वाले ब्रह्मांड का त्याग होता है और हकार रूप पूरक से सच्चिदानंद से पूर्ण होता है और उसकी स्थिति कुंभक है।

मन की पृथक्ता न रहे, मन स्थिर हो जाय उसे कुंभक प्राणायाम समझना। प्राणायाम द्वारा मन को स्थिर करने से, मन स्वस्वरूप से भिन्न नहीं रहता, स्वस्वरूप ही शेप रहता है, यह मेरा सच्चा स्वरूप है ऐसे समझकर अद्वैत तत्त्व में एक रस होना ही पूर्ण अघमर्पण है। जैसे घट को पानी में डुवो देने से उसके भीतर और वाहर पानी ही पानी हो जाता है, घटकी भिन्नता प्रतीत नहीं होती इसी प्रकार तत्त्व स्वरूप में मन को डुवा देने से मन की पृथक्ता नहीं रहती, द्वैतभाव नष्ट हो जाता है, यह ही आत्मा का स्वरूप है। इस स्थिति के सिवाय संपूर्ण दोषों की निवृत्ति नहीं होती। घट जल में डूवता है, घट का लय नहीं होता और पूर्ण स्थिति में मन का तो तत्त्व में लय हो जाता है।

अघ शब्द का अर्थ पाप है, स्वस्वरूप के भाव में लौकिक पाप पुण्य दोनों ही अघ शब्द का अर्थ है और मर्पण का अर्थ निवृत्ति है। पापनिवृत्ति के वाद रहा हुआ अद्वैत तत्त्व है। जो साधक ज्ञान युक्त उस स्वरूप में स्थिति करता है वह ब्रह्म होता है वह ही सिद्ध है। ऊपर वताया हुआ कुंभक प्राणायाम का मुख्य स्वरूप है उसके सिवाय सब प्राणायाम वालचेष्टा हैं।

लय विक्षेपयोः संधौ,
मनस्तत्र निरामिषम् ।
स संधिः साधितोयेन,
समुक्तो नात्र संशयः ॥६॥

अर्थः—लय विक्षेप की संधि में मन निर्विषयता को प्राप्त हो जाता है इसलिये जिसने यह संधि साध ली है वह मुक्त ही है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

विवेचन ।

मन इंद्रियों के संग सहित अथवा संग रहित विषयों में वृत्तिद्वारा प्रवृत्त हुआ करता है, एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय को ग्रहण किया करता है इसीसे चंचल बना रहता है, इस चंचलता में आत्मा जाना नहीं जाता । मन की चंचलता आत्मा को जानने नहीं देती । निर्विषय मन में आत्मा का बोध होता है । मन की वृत्तियां उत्पत्ति और नाश वाली हैं, वृत्ति के नाश को लय कहते हैं और वृत्ति की उत्पत्ति को विक्षेप कहते हैं । मन की एक वृत्ति का नाश होकर दूसरी वृत्ति उत्पन्न होने वाली है, इस नाश और उत्पत्ति के मध्य के समय को संधि कहते हैं, दोनों वृत्तियों को जोड़ने वाली होने से संधि है । संधि के क्षण-समय में मन की कोई भी वृत्ति न होने से सामान्य ज्ञप्ति-ज्ञान प्रकाशता है, यह प्रत्येक का अपना स्वस्वरूप है । जो मनुष्य उस संधि को आत्मस्वरूप जानकर टिकता है वह निसंदेह मुक्त है ।

आत्मा का प्रकाश सब स्थान में सब पदार्थों में एक सा भरा हुआ है उस प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं, मन भी उसीसे प्रकाशित होता है परंतु वह सतोगुण का कार्य होने से उसकी वृत्ति में आत्मा का प्रकाश अधिक होता है उसे विशेष चैतन्य अथवा आभास कहते हैं, चिदाभास भी उसी का नाम है। यह विशेष चैतन्य, विशेष और परिच्छिन्न होने से सब को मालूम होता है। विशेष चैतन्य संसारी है इसी से संसारियों का विषय होता है और उसके होते हुए उस करके ढपा हुआ उसका आधार सामान्य चैतन्य मालूम नहीं होता। विशेष चैतन्य मन की वृत्ति में है इसी से वृत्ति रहित मन की निरोध अवस्था (समाधि) में आत्मा का बोध होता है। समाधि की स्थिति कठिन है इसी से संधि को समझाते हैं। संधि बहुत थोड़े समय की होती है तो भी वृत्ति रहित है इसीसे शुद्ध अंतःकरण वाले संधि के ज्ञान से आत्मानुभव को प्राप्त कर सकते हैं।

मन की अनंत वृत्तियां हैं परंतु जब मन से वृत्ति का उत्थान होता है तब एक ही वृत्ति उठती है, एक समय में एक ही वृत्ति होती है वृत्ति के बदलने में संधि होती है। जाग्रत अवस्था का लय और स्वप्न अथवा सुषुप्ति के आरंभ में संधि है उस संधि को ग्रहण करने से भी आत्मा का बोध होता है। जाग्रत अवस्था मन की एक वृत्ति रूप है और स्वप्न भी वृत्तिरूप है इससे उनकी संधि में वृत्ति नहीं होती। सुषुप्ति अवस्था वृत्ति रहित नहीं होती क्योंकि वहां अभावरूप से वृत्ति है, मन और वृत्ति दोनों दबे हुए

होते हैं। प्राणापान की भी संधि है, प्राण अपान में मिला और अपान का उदय नहीं हुआ यह क्षण संधि है ऐसे ही अपान प्राण में मिला और प्राण का उदय नहीं हुआ यह भी संधि हैं।

इंद्रिय एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय का ग्रहण करती है तब बीच में संधि है, एक गुण की निवृत्ति होकर दूसरे गुण की वृद्धि होती है तब भी बीच में संधि है। सब प्रकार की संधियों में संधि समय मन की वृत्तिरूप विशेषता न होने से विशेष चैतन्य नहीं होता, वहां सामान्य चैतन्य होता है इसी से संधि में सामान्य स्वरूप आत्मा का बोध हो सकता है। संधि में जगत्, जगत् का कोई पदार्थ और शरीरादिक का भान नहीं होता जाग्रतादि अवस्था का प्रभाव भी नहीं होता, जड़ता नहीं होती, द्वैत नहीं होता और अबोध भी नहीं होता, इससे यह आत्मस्वरूप ही है, वहां मन का स्फुरण न होने से मन सहजानंद में मग्न होता है और उसकी पृथक्ता नहीं दीखती, इस प्रकार संधि को समझकर, यह ही मैं आत्मस्वरूप हूं ऐसे भाव में टिकने का अभ्यास करे।

वाराह भगवान् ने हिरण्याक्ष को मारा जानकर हिरण्यकशिपु अत्यंत दुःखी हुआ और क्रोध युक्त होकर अपने सरदारों को कहने लगा "क्षुद्र शत्रुओं ने मेरे प्रिय सहोदर को मरवा डाला है, भगवान् अब समभाव वाले नहीं रहे मैं उनका कंठ काटकर उनके गर्म रुधिर से अपने भाई का तर्पण करूंगा" यह कहकर संकल्प

किया कि मैं अपने को अजेय, अजर, अमर और अद्वितीय राजा बनाऊंगा और भगवान् से अपने भाई के मारने का बदला लूँगा। ऐसा विचार करके वह मंदराचल की कंदरा में ऊर्ध्वबाहु होकर आकाश की तरफ दृष्टि करके पैर के अंगूठे के सहारे खड़ा रह कर घोर तप करने लगा, उसके भयंकर तप से सब लोक तपायमान हुए; ब्रह्माजी तप से प्रसन्न होकर हिरण्यकशिपु के पास पहुंचे और बोले "हे कश्यपनन्दन! उठ तेरे तप से मैं प्रसन्न होकर तुझे वर देने को आया हूं जो इच्छा हो वह वर मुझ से मांगले" हिरण्यकशिपु बोला "हे अप्रमेय ईश्वर, मैं आपको प्रणाम करता हूं आप मुझे वर देने को चाहते हो तो मुझे यह वर दीजिये कि आपकी सृष्टि में उत्पन्न हुए प्राणियों में से कोई भी मुझे मार न सके, मेरी मृत्यु भीतर, बाहर, दिन, रात, पृथ्वी और आकाश में न हो कोई भी अस्त्र शस्त्र से मेरी मृत्यु न हो और अनेक प्रकार के अणिमादि ऐश्वर्य से मुझे विभूषित कीजिये।" ब्रह्मा वरदान देकर अदृश्य हो गये।

देवताओं को भी दुर्लभ ऐसे वर को पाकर हिरण्यकशिपु अभिमान से भर गया और ऐश्वर्य के मद से अनेक प्रकार के अधर्म में प्रवृत्त हुआ। उसका पुत्र प्रह्लाद विष्णु भक्त और सदाचारी था उसके साथ भी वह द्रोह करने लगा। वारंवार प्रह्लाद को ताड़ना देते हुए कहता था कि मुझको छोड़ कर मेरा वैरी का भजन क्यों करता है? प्रह्लाद ने विष्णु भक्ति को न छोड़ी, तब उसके ऊपर गजराज को छोड़वा दिया जिसके पैर के नीचे वह कुचल जाय, गजराज ने प्रहलाद को नहीं कुचला, विष-

धर सर्प से कटवाने का प्रयत्न किया गया परंतु उसने प्रह्लाद के सामने क्रूरता को छोड़कर उसे न काटा, जादू टौने करवाये गये, ऊंचे पहाड़ के शिखर पर से नीचे गिराया गया ऐसे अनेक उपायं किये परंतु प्रह्लाद की मृत्यु न हुई देखकर हिरण्यकशिपु वहुत आश्चर्य में पड़ा। एक दिन उसने अपने हाथ से प्रह्लाद को मार डालने का निश्चय किया और राज सभा में अपने पास प्रह्लाद को बुलवा लिया। प्रह्लाद को विष्णु का भजन करते हुए सभा में आते हुए देखकर अत्यंत क्रोधित होकर बोला "हे मंदमतिं, तू मुझको छोड़कर मेरे वैरी ईश्वर को क्यों भजता है ? तेरा ईश्वर कहां है तू कहे कि सर्व व्यापक है तो इस खंभ में क्यों नहीं देख पड़ता ?" प्रह्लाद ने खंभे को प्रणाम करके कहा मुझे खंमे में भी दीखता है। हिरण्यकशिपु ने कहा तू वहुत वकता है मैं तेरा शिर धड़ से अलग करता हूँ, देखूँ तेरा ईश्वर तेरी कैसे रक्षा करता है। ऐसा कहकर आसन से उठकर खंभेको घूसा मारा। खंभा भयंकर आवाज करते हुए फट गया और भयंकर रूपधारी नरसिंह भगवान् उसमें से प्रगट हुए, जिनका मस्तक सिंह का था और धड़ की सब आकृति मनुष्य की थी। हिरण्यकशिपु गदा लेकर नरसिंह भगवान् के ऊपर लपका। नरसिंह भगवान् ने उसे पकड़ लिया और राज भवन की चौखट पर घसीट कर ले आये, सायंकाल का समय था उसे अपने पैर पर रख कर के नाखून से पेट को फाड़कर उसकी आंतें वाहर निकाल दीं इस प्रकार भक्त की रक्षा करते हुए भगवान् ने दैत्य को मारा।

नरसिंह भगवान् ब्रह्मा की सृष्टि में पैदा हुए नहीं थे, मनुष्य अथवा जानवर नहीं थे, नाखून से मारा है नाखून अस्त्र शस्त्र नहीं थे, चौखट भीतर और बाहर नहीं है, पैर पर रखकर मारा है वह पृथ्वी और आकाश नहीं था और सायंकाल होने से दिवस और रात्रि नहीं थी इस प्रकार वरदान की मर्यादा रखते हुए हिरण्यकशिपु मारा गया।

हिरण्यकशिपु अज्ञान है अज्ञान की निवृत्ति ब्रह्मा की सृष्टि में पैदा हुए से हो नहीं सकती। अज्ञान की मृत्यु अस्त्र शस्त्र से, भीतर बाहर पृथ्वी आकाश में रात दिन में नहीं होती। जिस प्रकार भगवान् ने सब संधियों में हिरण्यकशिपु को मारा है, ऐसे अज्ञान संधि में ही मरता है भगवान् नरसिंह मनुष्य नहीं थे और पशु भी नहीं थे इसी प्रकार अज्ञान को नाश करने वाला मनुष्य और देवता से विलक्षण होना चाहिये। अज्ञान का मुख्य स्वरूप मन ही है। मन से ही संसार और दुःख का भान होने से मन राक्षस है, अज्ञान स्वरूप मन रूप दैत्य का नाश ज्ञान से होता है, ज्ञान रूप नरसिंह भगवान् हैं। ज्ञान भी ब्रह्मा की सृष्टि का पैदा हुआ नहीं होता, जैसे नरसिंह का धड़ मनुष्य का है ऐसे ज्ञान में रहा हुआ ज्ञाता जीव-प्रमाता है, जैसे नरसिंह का सिर सिंह का है ऐसे ज्ञान का लक्ष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है इसी से प्रमाता धड़ और शुद्ध चैतन्य जिसका शिर है ऐसा ज्ञान है। ऐसे ज्ञान से ही अज्ञान रूप राक्षस का नाश होता है।

मन को निर्विषय करने से मन जीता जाता है तव ज्ञान होता है, ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होकर ज्ञानाज्ञान से विलक्षण सुख

स्वरूप परमपद की प्राप्ति होती है। प्रयत्न विना होने वाली संधि मन का निर्विषय स्थान है, जो उसको समझ कर ग्रहण कर सकता है वह परमपद को प्राप्त होता है।

सर्वत्र प्राणिनां देहे,
जपो भवति सर्वदा।
हंसः सोहमिति ज्ञात्वा,
सर्व बंधात्प्रमुच्यते ॥ १० ॥

अर्थः—सब प्राणियों के देह में 'हंसः सोहं' जप हमेशा हुआ करता है 'वह हंस मैं हूं' ऐसा जानने वाला सब पापों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन।

सब प्राणियों का जीवन प्राण से है, प्राण विना कोई प्राणी जीता नहीं है, जिसमें प्राण का गमनागमन नहीं होता है वह जड़ कहलाता है, उसे अपना और दूसरों का बोध नहीं होता, प्राण वाले को ही बोध हो सकता है। जो प्राणी जिस प्रकार की बुद्धि वाला होता है उसी के अनुसार बोध कर सकता है, मनुष्य सब से अधिक बुद्धि वाला होने से लौकिक और पारलौकिक बोध करने की सामर्थ्य वाला होता है। पहिले श्लोक में प्राण अपान की संधि को दिखलाया है, प्राण अपान की गति का उदय अस्त हुआ करता है इसीसे संधि भी हुआ ही करती है-विना प्रयत्न हुआ करती है उसमें 'हंस' और 'सोहं' की आवाज होने से उसे

जप कहते हैं यह जप स्वाभाविक होता रहता है इसीसे उसका नाम अजपा जप है। विना किये हुए जो जप हो उसे अजपा कहते हैं। उसीमें दो वर्ण हैं हं और सो यह उलटे सुलटे उच्चार से सोहं और हंस होता है। श्वास के निकलने में "हंसो" का उच्चार होता है और प्रवेश में "सोहं" का उच्चार होता है; श्वास के प्रवेश में "सोहं" और निकलने में "हंसो" होता है। यह दोनों की एकता है दोनों का उत्पत्ति लय स्थान शुद्ध चैतन्य है, हं (मैं जीव स्वरूप से) सो (वह परब्रह्म) हूं और सो (परब्रह्म) हं (मैं) हूं। गायत्री के अर्थ का समावेश प्रथम वताये हुए अजपा में होता है इसीसे अजपा को भी गायत्री कहते हैं।

'हं' आत्मा और 'स' जगत् है इसीसे आत्मा जगत् है और जगत् आत्मा है। तत्त्व से दोनों की एकता है ऐसे हंस और सोहं का जाप प्रत्येक प्राणी को होता रहता है परन्तु अज्ञान में पड़े हुए मनुष्यों को इस एकता—अद्वैत का वोध नहीं होता इसीसे संसार चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। प्राण अपान के लक्ष सहित उनके वर्ण को जो जानता है-चित्त को लगाता है वह अजपा जाप का यथार्थ करने वाला है और उस साधक को एकता का वोध होने से परमपद की प्राप्ति होती है।

नासिका के भीतर चलने वाले प्राण और अपान के ऊपर लक्ष रखने से प्राण निर्मल होता है और प्राणापान और अपान प्राण की संधि दीर्घ होती है उसमें स्वस्वरूप का वोध होता है। योग शास्त्रानुसार शरीर में षट् चक्र हैं। आधार, स्वाधिष्ठान

मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। आधार चक्र का स्थान गुदा है, स्वाधिष्ठान चक्र का स्थान लिंग की जड़ है, मणिपुर चक्र का स्थान नाभि है, अनाहत चक्र का स्थान हृदय है, विशुद्ध चक्र का स्थान कंठ है और आज्ञा चक्र का स्थान भृकुटि का मध्य है। ये चक्र अज्ञान दशा में जगत की तरफ मुख वाले होते हैं। उनके ऊपर क्रम क्रम से प्राणापान की गति और संधिका ख्याल करते रहने से, संधि में टिकते रहने से चक्र मलरहित होते हैं और शुद्ध होकर उलट जाते हैं। जो जगत् की तरफ पूर्वाभिमुख थे वे आत्मा की तरफ पश्चिमी मुख वाले होते हैं और अधिक अभ्यास से मेरु डंड के मार्ग से साधक स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।

हंस ॐकार स्वरूप है ॐकार में भी दो पद हैं एक संसारी और दूसरा असंसारी। अकार उकार और मकार जगत् के होने से संसारी हैं वह 'स' स्वरूप है और अमात्र 'हं' पारमार्थिक होने से असंसारी है 'स' का 'हं' में लय करने से परमपद होता है इसीसे 'हंस' का जप भी ॐकार का जप है, उससे प्रत्यगात्मा और परमात्मा की एकता होती है।

इस अजपा जप में देश काल और आसन पात्रादिक साधन की आवश्यकता नहीं है। बैठे सोते खड़े रहते और चलते फिरते जप को कर सकते हैं क्योंकि केवल लक्ष को रखना है। स्वस्वरूप का बोध हो जाना यानी जीव और ब्रह्म की तत्त्व से एकता का दृढ़ निश्चय होना इस जप का पूर्ण फल है। ज्ञानी पुरुष जिसको

आत्मभाव दृढ़ है आत्मा का अपरोक्ष है उसे इस जप की आव-श्यकता नहीं है। जिसे स्वस्वरूप का दृढ़ बोध नहीं है उसे यह जप करना चाहिये।

जो स्वाभाविक क्रिया हुआ करती हो किन्तु जब तक उसका वास्तविक रहस्य नहीं जानते तब तक उस करके होने वाले पूर्ण फल को प्राप्त नहीं कर सकते। स्वाभाविक है, हुआ ही करता है ऐसा समझ कर उसके रहस्य की खोज न करना मूर्खता और लापरवाही है। अनंतकाल से पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से पदार्थों को अपनी तरफ खींच रही है, जब तक उस रहस्य को नहीं जानते थे तब तक उस शक्ति का अपने कार्यों में उपयोग नहीं कर सकते थे जब उसको जान लिया तब से अनेक प्रकार से उसको उपयोग में ला रहे हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी में प्राणापान की क्रिया चलती रहती है उसके रहस्य को न समझे वहां तक उससे होने वाले महान लाभ को प्राप्त नहीं कर सकते।

सब मनुष्यादि बोलते हैं उनके शब्दों को वे स्वयम् और दूसरे मनुष्य प्राणी भी सुनते हैं, सुनने वाला कुछ दूरी पर हो तो भी सुन सकता है, बीच में कोई सम्बन्ध न होते हुए क्यों सुनता है ? यह बोला हुआ शब्द कोई भी सहारे बिना दूर तक क्यों जाता है ? उसका पूरा विचार नहीं हुआ तब तक उससे होने वाला लाभ नहीं हुआ। एक स्थान से दूसरे स्थान में खबर पहुंचाने के लिये थोड़ी २ दूरपर खंभे गाड़कर, उनके ऊपर तार बांधकर तारमें कृत्रिम बिजली को भर कर कार्य लिया गया उसमें अधिक परि-

श्रम और खर्च भी है परन्तु जब तक और कोई सुगम उपाय नहीं मिला तब तक उससे ही काम लिया जाता था। अब यह शोध हुई है कि सब स्थान में बिजली स्वाभाविक ही भरी हुई है, तार द्वारा कृत्रिम बिजली से खबर पहुँचाने की आवश्यकता नहीं है। खबर लेने के लिये और पहुँचाने के लिये यंत्र तैयार करने की ही आवश्यकता है, जैसे मुख बोलने का यंत्र है और कर्ण सुनने का यंत्र है उस यंत्र से दूर स्थान के शब्द को सुन सकते हैं, वायरलेस टेलिग्राफ (बिना तार का तार) यह ही करता है, इशारे (संकेत) लेने देने के यंत्र ही बनाये गये हैं, सब स्थान पर भर कर रही हुई बिजली से सुलभता से कार्य हो सकता है।

पूर्वकाल में दिव्य श्रवण दिव्य दर्शन आदि योग की क्रियाओं का अधिक प्रचार था वह भी इन्द्रियों को दिव्य करके व्यापक तत्त्व से दोनों छोर को जोड़ देते थे वे ही दिव्य श्रवण आदि थे वह मानसिक सूक्ष्म भाव था, टेलीफून और वायरलेस टेलीग्राफ उसका ही स्थूल स्वरूप है।

प्राणापान की क्रिया के भीतर भी वह व्यापक तत्त्व ही भरा हुआ है। प्राणापान उत्पत्ति लय वाले और विकारी हैं, जिसमें और जिससे उनकी उत्पत्ति और लय होता है वह स्थिर तत्त्व है। सब चैतन्य को उस चैतन्य से चैतन्यता की प्राप्ति होती है। अजपा जप में जो लक्ष देकर उस तत्त्व का साक्षात्कार करता है उसे अपरिवर्तन वाली महानता की प्राप्ति होती है। इस तत्त्व को यथार्थ जानने वाला जान कर तत्त्व स्वरूप होजाता है और सब

प्रकार के बन्धनों से हमेशा के लिये रहित होकर आनन्द स्वरू होता है।

तर्पणं स्वसुखे नैव,
स्वेंद्रियाणां प्रतर्पणम्।
मनसा मन आलोक्य,
स्वयमात्मा प्रकाशते ॥११॥

अर्थः—आत्म सुख से ही इन्द्रियों को तृप्त करना यही इंद्रियों का तर्पण है (पश्चात्) मन से मन को देखने से आत्मा का आप ही आप प्रकाश होता है।

विवेचन।

इन्द्रियां विषय में प्रवृत्त होकर चंचलता को पैदा करती हैं और अतृप्त रहती हैं इसीसे उनको तृप्त करने का कथन करते हैं।

तृप्त करना तर्पण है। इन्द्रियां विषयोंमें लोलुप रहती हैं, जैसे चील मांस का टुकड़ा देखकर झपटती है इसी प्रकार इन्द्रियां भी अपने विषय को देखकर दौड़ती हैं। जैसे अत्यन्त भूखा मनुष्य भक्षाभक्ष का विचार न करते हुए खाने को देखकर दौड़ता है इसी प्रकार इन्द्रियों की प्रवृत्ति है वे जैसे जैसे विषय का सेवन करती जाती हैं वैसे वैसे प्रचंड होती जाती हैं उनकी क्षुधा बढ़ती जाती है, विषयों का भोग करते हुए कभी तृप्त नहीं होतीं उन्हें तृप्त—

शांत करने का एक ही उपाय है। आनन्द स्वरूप जो अपना आत्मा है उसके बोध से मन इन्द्रियां तृप्त होजाती हैं।

सृष्टि के आरम्भ काल में सृष्टा ने इंद्रियों को बहिर्मुख ही रची हैं। इंद्रियों के देवता अपने सुख की वांछा करते हुए गो अश्वादिक को देखकर सकुचित हुए, समझा कि यह शरीर हमारे भोग करने के लिये योग्य नहीं है, पीछे मनुष्य शरीर को देखकर प्रसन्न हुए परन्तु वहां भी स्वरूप सुख का आच्छादन करने वाला अज्ञान था इसीसे स्वरूप सुख को छोड़ कर विषय सुख में प्रवृत्त हुए। जैसे अत्यन्त क्षुधातुर इधर उधर भटकते हैं वैसे ही इंद्रियों के देवता की स्थिति हुई।

ऐसे बहुत काल तक विषयों का सेवन करने से विषय क्षुधा निवृत्त न हुई। जब ज्ञान का सुकाल हुआ, अज्ञान का परदा टूट गया तब स्वसुख में शांति से नींद लेने लगे।

जब जब इंद्रियां विषय में प्रवृत्त हों तब तब विषय में दोष दृष्टि से-वैराग्य से उन्हें वहां से लौटाना चाहिये इस प्रकार के अभ्यास से विषयाकार प्रवृत्ति रुक कर आंतर सुख होने से निज सुख की प्राप्ति होती है तब स्वरूपानंद में आनंद वृष्टि से इन्द्रियां तृप्त होती हैं इस प्रकार ज्ञाता अपने समाधान को कर लेता है।

इन्द्रियों की विषय में प्रकृति द्वारा जो सुख की प्राप्ति होती है वह सुख, दुःखरूप ही है क्योंकि आरम्भ अन्त और मध्य में दुःख अवश्य रहता है सुख के काल में थोड़े क्षण के लिये दुःख

का भान न हो तो भी उसके गर्भ में दुःख ही है और भोग से तृप्त न होना महान दुःख है, समझा हुआ विपय जन्य सुख दुःख का हेतु है इसीसे ऐसे सुख की चाहना विवेकी पुरुप नहीं करते।

एक ही मन विवेकी और अविवेकी दो प्रकार का होता है, अविवेकी मन इन्द्रियों के साथ विपयों में दौड़ता है और विवेकी मन, इन्द्रियों को विपय की तरफ से रोक कर आत्म भाव में आता है। इसी प्रकार विवेक के भावसे अविवेक को हटाकर विवेक को भी आत्मस्वरूप में लीन कर देता है—चैतन्य स्वरूप आत्मा में जाग्रत होकर अज्ञान की नींद को छोड़कर मन इन्द्रियां और विपय की एकता को देखने से आत्मा का प्रकाश होता है। मैं आत्मा असंग अखंड और एक रस हूँ इस प्रकार की शुद्ध कल्पना का उदय होता है और मैं जीव हूँ कर्ता भोक्ता हूँ परिच्छिन्न हूँ और अल्पज्ञ हूँ ऐसी अशुभ कल्पना निवृत्त होती है। शुभ कल्पना अशुभ कल्पना का नाश करके नहीं रहती तब सबका आद्य स्वरूप ब्रह्म ही शेप रहता है, यह स्वरूप ही सुख दुःख रहित निज स्वरूप है। उसमें स्थिति होने से इन्द्रियों की वास्तविक तृप्ति होती है, इस प्रकार तृप्त हुई इन्द्रियां फिर कभी भी विपयों में लोलुप होकर नहीं दौड़तीं।

मन की आड़ से ही आत्मा का प्रकाश नहीं होता था, इससे मन करके आत्मा को ही देखना चाहिये जब मन आत्मा को देखने जाता है तब मनकी पृथक्ता नहीं रहती और स्वस्वरूप से आत्मा प्रकाशता है।

आत्मनि स्वप्रकाशाग्नौ,
चित्तमेकाहुतिं क्षिपेत् ।
अग्निहोत्री स विज्ञेय,
इतरे नाम धारकाः ॥ १२ ॥

अर्थः—जो आत्मा के प्रकाश रूप अग्नि में चित्त की एक आहुति को देता है, वह सच्चा अग्निहोत्री है और सर्व नाम मात्र के अग्निहोत्री हैं।

विवेचन ।

अग्निहोत्र करने का हवन कुण्ड शरीर है, विवेक से शरीर को शुद्ध करना—अग्निकुण्ड को पोतकर शुद्ध करना है, साधन चतुष्टय जो विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता रूप है यह हवन के योग्य उपसाहित्य है, होता जीव है, आहुति देने का पदार्थ चित्त है और आत्मज्ञान रूप अग्नि है।

अग्निहोत्र के लिये अग्नि प्रगट करना चाहिये, आत्मा नीचे की अरणी का काष्ट है, प्रणव अरणी का ऊपर का काष्ट है, ज्ञान का विचार मंथन स्थान है, चिंतन रूप अनुसंधान मंथन है, काम क्रोध मोहादि आसुरी वृत्तियां और द्वैत भाव हवनकुन्ड में जलाने की लकड़ियां हैं, उसमें मंथन करके निकाले हुए ज्ञान रूप अग्निको रखकर वैराग्यरूप धमनी से धमकर अग्नि को प्रज्वलित करना प्रज्वलित हुई अग्निकी शिखा ऊपर ब्रह्मांडमें जाती है तब नाम रूप जल जाते हैं और आत्मा प्रकाशता है। इस प्रकार आत्माके प्रकाश

के बाद, चित्त जो समग्र व्यवहार का करने वाला और संसारी है उसकी एक आहुति दे देना चाहिये। चित्त का हवन करने से चित्त की कल्पनारूप समग्र नामरूप के सूक्ष्म संस्कार भी जल जाते हैं और अस्ति भाति प्रियरूप सच्चिदानंद यथार्थ प्रकाशता है, इस प्रकार चित्त का ही हवन कर देने वाला पूरा अग्निहोत्री है और अन्य अग्निहोत्री तो नाम मात्र के अग्निहोत्री हैं।

जितने प्रकार के अग्निहोत्र किये जाते हैं वे सब वारंवार करने पड़ते हैं उसकी आहुति वारह सोलह अथवा अधिक होती हैं परन्तु ऊपर जो यथार्थ अग्निहोत्र दिखलाया है वह एक ही समय करना पड़ता है और एक ही चित्त की एक आहुति देनी पड़ती है क्योंकि यह अज्ञान को नाश करता है, इसीसे अज्ञान में जिसकी क्रिया है ऐसा यज्ञ करने वाला जीव भाव ही नहीं रहता। यज्ञ का अर्थ जला देना, नाश करना, समाप्त करना है। यज्ञ करते हुए भी पापादि दोष रह गये तो वह वास्तविक यज्ञ नहीं है, ज्ञानयज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है उस यज्ञ में ही सब दोषों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है और सब का आधार—अधिष्ठान स्वरूप सच्चिदानन्द ही शेष रहता है। अन्य अग्निहोत्र देह के अहंकार को रखने वाला है और ज्ञान रूप अग्निहोत्र देह के अहंकार को नाश करने वाला है इसीसे श्रेष्ठ है।

ऊपर बताये हुए ज्ञानयज्ञ को करने वाले ज्ञानयज्ञ करके सिद्ध होते हैं। साधकों का यज्ञ इससे भिन्न होता है साधन अवस्था में मन को वारंवार आत्मा में अर्पण करना पड़ता है,

जब तक साधक पूर्णावस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक अर्पण किया हुआ मन लौटकर प्रपंच की भावना वाला हो जाता है, वहां से लौटाकर आत्मा में स्थापित करने का वारंवार अभ्यास करने से मन निर्मल हो जाता है।

जो मनुष्य अपने को अग्निहोत्री और दीक्षित मानते हैं जो आत्म भाव से रहित हैं उन्हें देहाभिमान ही स्फुरता है वे ही घी तांदुलादिक को जलाते हैं उनका यज्ञ बहुत अल्प है।

देहो देवालयः प्रोक्तो,
देही देवो निरंजनः।
अर्चितः सर्व भावेन,
स्वानुभूत्या विराजते ॥१३॥

अर्थ:—देह देवालय है और आत्मा निरंजन देव है, सब भावों से अर्चन किया हुआ वह अपने अनुभव से प्रकाशता है।

विवेचन।

पूजन का स्थान, पूजन करने वाला, पूज्य देव और उसका पूजन एक शरीर में दिखलाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मांड मंदिर का भी पूजन समझना यह पूजन तत्त्वदर्शी पुरुषों का पूजन है और यह अंतिम पूजन है। बाहर मंदिर का पूजन तो बाल पूजन है।

शरीर मंदिर है। स्थूल शरीर देखने में आता है, सूक्ष्म शरीर कर्ता का भाव युक्त है और कारण शरीर दोनों शरीरों का कारण

रूप है। ऐसा दोनों शरीरों से युक्त स्थूल शरीर ही देवालय-देव मंदिर है यह देवता के रहने का स्थान है। जैसे लोग पाषाण, चूना आदि का मंदिर बनाकर उसमें देवता की प्रतिमा को स्थापित करते हैं इसी प्रकार स्थूल शरीर देव मंदिर है। जैसे मंदिर में खंभे लगे हुए होते हैं इसी तरह हाथ पैर रूप खंभे हैं, उसमें तीन मंज़िल हैं जो तीनों शरीर रूप है। दूसरे मंज़िल में (अंतःकरण में) देव विराजमान है। जो मन बुद्धि और इन्द्रियों का विषय होता है यह सब दृश्य है इसी से तीनों शरीर और उनकी सब वस्तुयें दृश्य हैं जो सतो रजो और तमोगुण और पंच महाभूतों से बना हुआ शरीर मंदिर है।

शरीर में रहा हुआ आत्मा देही जो निरंजन देव है, विकार रहित, अज, अविनाशी और सच्चिदानंद स्वरूप है वह ही देव है। लौकिक और पारलौकिक सब देवता-दिव्यता का खजाना होने से वह परब्रह्म कहा जाता है। जब तक मनुष्य उसकी उपासना करके पवित्र नहीं होता तब तक अशुद्ध—अपवित्र बना रहता है। उसकी पूजन विधि और सामग्री को कहते हैं।

पूजन करने वाला अहंकार है जो जड़ और चेतन की ग्रंथि से बना है। जब अनेक जन्म के पुण्य इकट्ठे होते हैं तब वह अपनी अशुद्धि को समझ कर पवित्रों को भी पवित्र करने वाले परब्रह्म का पूजन करके पवित्र होना चाहता है।

महावाक्य की भाग त्याग लक्षणा से जो जीव ईश्वर की एकता है ऐसे जलसे परमदेव को स्नान कराया जाता है। स्नान

पवित्र करता है। आत्मदेव जो देहाध्यास, द्वैत भाव आदि से मलिन हुआ सा हो गया है वह अद्वैत जल में स्नान करने से शुद्ध होता है। शरीर में सुगन्ध लगाई जाती है। आत्म विवेक की रगड़ से अनात्म को घिस डालने के बाद उसमें से निकली हुई गंध का लेप देवके करना चाहिये, यह दिव्य गंध है। आत्मदेव स्वयम् दिव्य गंधस्वरूपही है परंतु अज्ञानके भावयुक्तहो जाने से गंध बिगड़ गई थी उसको निकाल देने से स्वरूप की दिव्य गंध प्रकट होजाती है। यह निरञ्जन आत्मदेव ही मैं हूँ, यह चंदन है। अनेक प्रकार की मनकी चञ्चलता को एक सच्चिदानंद रूप धागे में पिरोकर आत्म-देव को चढ़ाना पुष्प माला का चढ़ाना है। जगत् सच्चा है और मैं शरीर हूँ ऐसे अज्ञान को जलाकर धुंआ करना धूप है। एक परब्रह्म ही सब प्रकार से सब में प्रकाशित हो रहा है, मेरा भी आत्मा वह ही है ऐसे ज्ञान का करना ज्ञान दीपक को प्रगट करना है। जगत् और जगत् के सब ऐश्वर्य का भास मुझ चैतन्य में ही होता है, वह सब दृश्य मुझ से भिन्न नहीं है सब ही मेरा स्वरूप है तब मैं किसकी कामना करूं? किसलिये करूं? ऐसे भाव से-स्वस्वरूप के बोध से अखंडित तृप्ति होना नैवेद्य है; सब प्रकार से व्यक्ति द्वारा होने वाली कामना के परदे को हटा देना नैवेद्य का अर्पण करना है। अखंड एक रस परब्रह्म प्रत्येक में आत्मरूप से विराजमान है ऐसी दृढ़ भावना करना तांबूल देना है। प्रत्येक क्षण में जो द्वैत की तरफ़ चित्त की वृत्तियां काम, क्रोध, लोभ, मोहादि भाव से हुआ करती हैं उन सब वृत्तियों को

इकट्ठी करके आत्मदेव के ऊपर चढ़ा देना फल का चढ़ाना है। पूजन करने के समय दक्षिणा भी देनी चाहिये, पूर्ण समाधान का होना दक्षिणा है। जैसे किसी को दक्षिणा देने से प्रसन्नता होती है ऐसे ही पूर्ण समाधान में भी प्रसन्नता होती है। जड़ चेतन जितनी भिन्नता है वह सब माया और माया का कार्य है; माया मायापति से अभिन्न होने से, माया का भिन्न अस्तित्व न होने से जो कुछ है सब परब्रह्म ही है, इसके सिवाय और कुछ नहीं है। ऐसे सब भिन्नता को हटाकर एक का सम्बन्ध करना व्यतिरेक पूजन है। देव के चारों तरफ़ घूम कर प्रदक्षिणा की जाती है। जितना जो कुछ भिन्न दीखना है वह सब ईश्वर स्वरूप है, सब तरफ से विचार करने से सब में ईश्वर की सिद्धि होती है यह अन्वय है क्योंकि सब एक में जुड़ जाते हैं।

सब ईश्वर स्वरूप है इसीसे सब में आत्मदेव परिपूर्ण है ऐसे सर्वात्म भाव को दृढ़ करना ही आत्मदेव का पूजन है। इस भान में टिक कर सब भावाभाव को हटाकर निर्विकल्पता प्राप्त करने से आत्मा स्वानुभव से प्रकाशित होता है। यह ज्ञानियों का वास्तविक पूजन है। जगत् की भिन्नता के साथ भिन्न भाव वाला होना जगत् का द्वैत पूजन है उसको उलटा देने से अद्वैत आत्मा का पूजन होता है। अज्ञानियों का पूजन और देव मायिक है। यह पूजन भी शास्त्र विधि और निर्मल भाव युक्त हो तो अद्वैत परम पूजन के लिये अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मदद रूप होता है।

मौनं स्वाध्ययनं ध्यानं,
ध्येयं ब्रह्मानुचिंतनम् ।
ज्ञाने नेति तयोःसम्यक्,
निषेधांतःप्रदर्शनम् ॥१४॥

अर्थः—मौन स्वाध्याय है, ध्येय रूप ब्रह्म का अनुचिंतन करना ध्यान है और ज्ञान से (ध्येय और ध्यान) दोनों का निषेध करने से शेष रहे हुए आत्मा का दर्शन होता है।

विवेचन ।

मौन स्वाध्याय रूप है। मौन न बोलने को कहते हैं, जगत् और जगत् की तरफ भावाभाव से अन्तःकरण की प्रवृत्ति का न होना मौन है अथवा आत्मा का मनन यानी श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन करना मौन है। जगत् में भावाभाव से युक्त प्रवृत्ति बोलना है। ऐसा बोलना जिसमें न हो उसे मौन कहते हैं। मुख से न बोलना काष्ठ मौन है और अन्तःकरण से न बोलना चैतन्य मौन है; मुख से न बोलकर अन्तःकरण में अनेक प्रकार से भावाभाव और कामनाएं हुआ करें, इशारे से अथवा लिखकर बोले इस मौन को मौन नहीं कहते। इससे एक इन्द्रिय के ऊपर कुछ क़ाबू होता है और अन्तःकरण के मौन को साधने से बाह्य इन्द्रियां और अन्तःकरण रूप आन्तर इन्द्रियों पर क़ाबू हो जाता है। जगत् में जीव भावाभाव करने से अज्ञान में गोता खाता रहता है, जो अज्ञान और उसके कार्य जगत् की तरफ की वृत्ति

को हटादे तो शुद्ध स्वरूप ही है ऐसे मौन की सिद्धि स्वाध्याय करने से होती है।

स्वाध्याय अपना अध्ययन है। स्व अपना आत्मा और अध्ययन पढ़ना-विचारना—टिकना है, अपने स्वरूप को जानकर टिका जाय वह स्वध्याय है; अथवा स्वरूप स्थिति के निमित्त उपनिषदों अथवा वेदान्त-शास्त्र को ब्रह्मनिष्ट सद्गुरु के मुख से श्रवण करना उसका विचार करना स्वाध्याय है। जगत् की विद्या जगत् के निमित्त पढ़ी जाती है ऐसे पढ़ने को स्वाध्याय नहीं कहते। अपना वेद अथवा अपनी शाखा का पढ़ना उसके अनु-सार शास्त्र विधि से कर्म करना और उपासना करना, जब अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त होते हैं तब वह ठीक ठीक आत्म अध्ययन में उपयोगी होते हैं। कर्म फल के निमित्त अथवा उपासना करके स्वर्गादि ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये पढ़ने को स्वाध्याय नहीं कहते।

चित्त की एकाग्र वृत्ति को ध्यान कहते हैं। अपनी इच्छा से और शास्त्र की विधि से ध्यान कर सकते हैं। ध्याता, ध्यान और ध्येय के सिवाय और कोई जहां न रहे उसे ध्यान कहते हैं। उसमें ध्येय के ऊपर ध्याता-ध्यान करने वाले की चित्त वृत्ति का प्रवाह चालू रहता है ध्येय के ऊपर ही एकाग्रता होती है उसे ध्यान कहते हैं। खंडित चित्त वृत्ति को ध्यान नहीं कहते।

जिसका ध्यान किया जाता है उसे ध्येय कहते हैं। लौकिक पदार्थ का ध्यान भी इसी प्रकार का है, जो अनुभव में आया है,

जिसकी स्मृति है उसका ध्यान हो सकता है ऐसे ही शास्त्र वाक्य से सुन कर जो कुछ समझा है उसी के ऊपर ध्यान कर सकते हैं इसी से वह ध्येय होता है। ध्यान का विषय जो ध्येय है वह जब अप्रत्यक्ष होता है तब उसका ध्यान करते हैं, प्रत्यक्ष पदार्थ का ध्यान नहीं करते। ध्येय मानसिक भावमय होता है, यहां ध्येय परब्रह्म है इससे परब्रह्म का चिंतन रूप ध्यान है। मुमुक्षुओं को परब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं है उसका अपरोक्ष-प्रत्यक्ष करने के लिये ध्यान की आवश्यकता है, यह ध्यान शास्त्र और गुरु के वचन के अनुसार ही किया जाता है। ध्येय रूप परब्रह्म सब स्थान में रहा हुआ है और सबमें व्यापक है। शास्त्र में कहे हुए वचनानुसार विधि और निषेध विशेषणों से विचार करने से मन में कुछ लक्ष आ सकता है उसका ही चिंतवन करना चाहिये। ब्रह्म परिपूर्ण है, सच्चिदानन्द स्वरूप है सब का आधार यह विधि विशेषण है और अद्वैत, अक्रिय, अनादि आदि निषेध विशेषण हैं। बारंबार विशेषणों के सहारे से विधि रूप से ग्रहण करना और निषेधता को हटाकर शेष रहे हुए को समझकर ग्रहण करना उसी का नाम ब्रह्म चिंतवन है, चित्त विषय की तरफ़ चेतता रहता है उसी का नाम चिंतवन है, यहां विषय-ध्येय ब्रह्म है चित्त उसी को चेतता रहता है उसी से उसको ब्रह्म चिंतवन कहते हैं। जिसका चिंतवन करते हैं उसी में चित्त का रहना चिंतवन है, चित्त के हट जाने से चिंतवन का भंग होता है।

वेदान्त शास्त्र अनेक युक्तियों द्वारा ब्रह्म चिंतवन से भरा हुआ है, यह विषय बहुत सूक्ष्म और दुर्बोध होने से बारंबार चिंतवन

करने की आवश्यकता है। अधिक अभ्यास से ही ब्रह्म भाव स्थिर होता है और अनात्म की तरफ से रुचि हट जाती है। ध्यान करने वाला जब ध्यान में दृढ़ हो जाता है तब ध्याता और ध्यान को यह नहीं यह नहीं करके छोड़ देता है अथवा स्वयं छूट जाता है तब उन दोनों से निवृत्त होकर शेष एक ग्रहण किया हुआ ध्येय से विलक्षण तत्त्व ही शेष रहता है जो अपना प्रत्यक् स्वरूप है। ध्यान जिस भाव से किया था उससे कहीं अधिकता वाले तत्त्व का अपरोक्ष होता है। ध्यान बुद्धि से समझ कर किया था अब जो अपरोक्ष होता है उस तत्त्व में बुद्धि की गम नहीं है वहां त्रिपुटी का अभाव होता है और प्रत्यक्ष होता है यह विलक्षणता है। ध्यान की वृत्ति का लय जब ध्येय में हो जाता है तब समाधि होती है यह आरंभ में कभी कभी विकल्प को कर देती है इसीसे उसे सविकल्प समाधि कहते हैं, अधिक अभ्यास से विकल्प का उठना बन्द होता है तब निर्विकल्प समाधि होती है उसमें रहा हुआ तत्त्व सुना समझा अनुमान किया सबसे विलक्षण होता है उसे सम्यक् दर्शन अथवा तत्त्व दर्शन कहते हैं। तत्त्व का तत्त्व में अनुभव होना ही वास्तविक बोध है, ज्ञाता इस प्रकार का अनुभव करके कृतार्थ होता है। यह स्थिति अन्तिम स्थिति है स्वस्वरूप है और पर अपर से विलक्षण तत्त्व स्वरूप है।

मौन अधिकारी के भेद से दो प्रकार का होता है, मुमुक्षु और ज्ञानी का। श्रवण, मनन और निदिध्यासन में प्रवृत्त होना और संसार में आसक्ति युक्त प्रवृत्ति न होना मुमुक्षुओं का मौन है। ब्रह्म को प्रत्यगात्मा से अभिन्न जानकर पाप पुण्य, अच्छे बुरे

भाव को छोड़ना और एक परिपूर्ण ब्रह्म है द्वैत कुछ भी नहीं है ऐसे भाव रूप समाधि में टिका रहे वहां से हट कर संसार के भाव में घुस न जाय यह ज्ञानी का मौन है। राग द्वेश रहित बोलने को बोलते हुए आत्म भाव का विस्मरण न होने दे, सब चेष्टा स्वाभाविक होना, वास्तविक तत्त्व में टिकना ज्ञानी का मौन है।

शंका:—मन बुद्धि परब्रह्म को पहुंचती नहीं है इसीसे ध्यान का विषय ध्येय काल्पनिक है ऐसे ध्येय से वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी; ध्याता ध्यान की निवृत्ति से काल्पनिक ध्येय भी नहीं रहेगा, वहां शून्य ही रहेगा तब क्या तत्त्व शून्य है ?

समाधान:—ध्यान मन से किया था, ध्यान होने के बाद ध्याता और ध्यान का त्याग करने से ध्येय रहता है; विकार युक्त ध्याता जब निषेध करके अपने विकार को और निषेध से ध्यान के विकार का त्याग करता है, तब उसकी कल्पना से जो ध्येय में विकार था वह भी जाता रहता है। तीनों के विकार जाने से तीनों की पृथक्ता भी जाती रहती है तब एक यथार्थ तत्त्व ही शेष रहता है वह ही ब्रह्म है। उसे शून्य नहीं कह सकते, तो कहता है कि शून्य रहता है तब उसके ज्ञाता को स्वीकार करता है। ज्ञाता है तब शून्य कैसा ? शून्य में अस्तित्व नहीं है, तू जगत् को देखता था वह वहां नहीं है उसे शून्य कहता है और उसके आधार 'है' को कायम रखता है। 'शून्य है' ऐसा कहने से भी सबका निषेध करके 'है' रूप तत्त्व की सिद्धि होती है।

अतीतानागतं किंचित्,
न स्मरामि न चिंतये।
राग द्वेषं विना प्राप्तं,
भुंजाम्यत्र शुभाशुभम् ॥१५॥

अर्थः—मैं पीछे की कुछ भी स्मृति नहीं रखता न आगे की चिन्ता करता हूं, राग द्वेष रहित जो कुछ शुभाशुभ प्राप्त होता है उसी का यहां पर भोग करता हूं।

विवेचन।

जब ज्ञानी मौन रूप समाधि को प्राप्त होता है तब उसके शरीर का निर्वाह कैसे होता है, भोग को कैसे भोगता है और राग द्वेष रहित कैसी स्थिति होती है इसी को दिखलाते हैं।

मैं जो ज्ञानी हूँ मेरा मौन चेष्टा रहित समाधि रूप नहीं है। चेष्टा से ही बुद्धि विषम भाव को प्राप्त हो ऐसा नियम नहीं है। बुद्धि की विषमता अज्ञान से है इसीसे अज्ञान निवृत्त हो जाने पर बुद्धि समभाव वाली होकर चेष्टा कर सकती है। जब तक शरीर है तब तक प्रारब्ध की चेष्टा होती रहती है और उसके लिये बुद्धि का रहना आवश्यक है। जैसे बिच्छू डंक देने वाला नहीं है डंक देने का सामर्थ्य उसके कांटे में है जब डंक को काट डालते हैं तब भी बिच्छू जीता रहता है परन्तु डंक मार नहीं सकता, इसी प्रकार बुद्धि दुःख देने वाली नहीं है, बुद्धि में रहा हुआ देहाध्यास-आसक्ति दुःख का हेतु है उसका नाश होने से दुःख नहीं रहता

और चेष्टा होती रहती है, बुद्धि में से जगत् की सत्यता चली जाने से चेष्टा में सत्यता से जो दुःख होता था वह नहीं रहता।

तत्त्वज्ञान होने से जितने नाम रूप और उनकी भिन्नता है वे सब मिथ्या हो जाते हैं। जैसे स्वप्न की क्रिया और सुख दुःख जाग्रत होते ही मिथ्या होजाते हैं। इसी प्रकार अज्ञान रूप नींद में से ज्ञान की अवस्था रूप जाग्रत को प्राप्त होने से संसार और उसके सब कार्य मिथ्या होजाते हैं।

भूतकाल और भविष्यकाल दो अप्रत्यक्ष हैं वर्तमान काल में टिकाव है। भूतकाल यानी जन्म से लेकर आज तक जितने सुख दुःख संसार में भोगे हैं, अनेक प्रकार की आपत्तियां उठाई हैं और सुख भी कई प्रकार के भोग चुका हूँ उसका मैं स्मरण नहीं करता। जब तक संसार को मैं सत्य समझता था तब तक स्मरण हुआ करता था और स्मरण मात्र से ही सुख दुःख भी होता रहता था, भूतकाल के अन्तःकरण में पड़े हुए संस्कारों को स्मृति करके उत्तेजित किया करता था। अब ज्ञान होने से सब मिथ्या होगये हैं इसीसे जो कुछ हो गया है उसीका किंचित् भी स्मरण नहीं करता। जो कुछ होना था सो होगया अब उसका स्मरण करने से क्या लाभ ? यह भी एक तमाशा ही था ऐसा समझ कर पूर्व कर्म के सम्बंध से रहित टिकता हूँ। पूर्व में जितने सुख दुःख भोगे थे वह अब मैं नहीं हूँ; पूर्व में अहंभाव जो अज्ञान से बना था वही वहां कर्ता भोक्ता था, उस समय में भी मैं कर्ता भोक्ता नहीं था, जब मैं कर्ता भोक्ता नहीं तब मेरे सुख दुःख भी नहीं तब मैं उनका स्मरण क्यों करूं ? अज्ञानी मनुष्य भी भूत-

काल का स्मरण करके क्या कर सकता है ? मैं ज्ञानी हूं न मेरा भूतकाल ही है इसी प्रकार सब स्मृति को छोड़ता हूँ।

इस प्रकार भविष्यकाल की भी चिंता नहीं करता। मैं अखंड हूँ उसमें भविष्यकाल ही नहीं है। व्यवहार की सिद्धि के लिये भविष्यकाल की कल्पना है; न मुझमें भविष्यकाल है न मुझे व्यवहार की सिद्धि करना है, प्रवाह रूप से सव आप ही आप होता रहता है। मेरा कुछ बिगड़ता हो तो मैं चिंता करूं ? शरीर का प्रारब्ध शरीर भोगता है, जैसा प्रारब्ध होगा वैसा भोग होगा, शरीर के भोग में मैं सुखी दुःखी नहीं होता। जैसे जगत् में सब शरीर हैं ऐसे यह भी एक शरीर है, न मेरा प्रारब्ध है और विचार दृष्टि से जड़ ऐसे शरीर का प्रारब्ध भी असंभवित है। न होते हुए भासना यह अज्ञान का चमत्कार है, जहां चमत्कार है जिसे चमत्कार है वह उसे हुआ करो, मेरे लक्ष में एक अखंड सच्चिदानन्द स्वरूप है इसीसे मैं सुख प्राप्ति के लिये अथवा दुःख निवृत्ति के लिये भविष्य की कोई भी चिंता नहीं करता। रागद्वेष से सुखी दुःखी होना पड़ता है, अज्ञान रहित मुझ ज्ञान स्वरूप में रागद्वेष नहीं है तो उससे होने वाले सुख दुःख मुझमें कैसे होंगे ? मैं उसका द्रष्टा हूँ भोक्ता बनता नहीं। भोक्ता में पाप पुण्य का सम्बन्ध है, मैं भोक्ता नहीं हूँ, द्रष्टा हूं इसीसे जो कुछ होगा सो सब ठीक ही है। मुझे कोई भी शुभाशुभ हानि पहुँचा नहीं सकता।

तत्त्व ज्ञान होते ही संचित रूप कर्म, जो अनंत काल से इकट्ठे बनकर ढेर बन गये थे वे ज्ञान रूप अग्नि का स्पर्श होते ही सब

जल कर खांक हो गये हैं। अज्ञान के न रहने से प्रारब्ध निर्बल हो गया है अब प्रारब्ध में समाप्ति सिवाय और कुछ करने की सामर्थ्य नहीं है, तब भविष्य के प्रारब्ध कर्म के लिये मुझे चिंता क्यों हो? देह और देह के सुख दुःख के साथ मेरा कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। देह दुःखी रहे अथवा न रहे उसमें मुझे क्या? देह ही प्रारब्ध कर्मरूप है और प्रारब्ध ही कर्म देहरूप है। देह से प्रारब्ध और प्रारब्ध का भोग अज्ञानियों को हुआ करता है, ज्ञान होते ही सब मुरदे होजाते हैं। वर्तमान काल में भी मुझसे क्रियमाण यानी आगामी कर्म नहीं होते। देह में आत्माध्यास रूप अहंकार से क्रियमाण होते हैं मुझमें ऐसा अभिमान ही नहीं है तब मेरा कर्म क्या? जिसे कुछ लेना देना हो वह क्रियमाण करे भविष्य की चिंता करे मुझे तो सब कुछ प्राप्त ही है, लेना देना कुछ रहा नहीं है। जो कुछ होता है सबको रागद्वेष रहित द्रष्टा होकर प्रसन्नता पूर्वक भोक्ता हूँ इससे मुझमें दुःख का अभाव है। शरीर मैं नहीं हूँ इससे उससे होने वाले द्वन्द्व दुःख भी मेरे नहीं, मैं चैतन्य स्वरूप, अविद्या और उसके कार्य से भिन्न सबका अधिष्ठान हूँ इससे व्यक्ति का अभिमान मुझमें नहीं है। मैं बाहर भीतर एक रस एक समान विकार रहित हूँ, ऐसे विकार रहित रहकर भोग भोगता हूँ और स्वरूपानन्द से प्रसन्न होता हूं।

रागद्वेष अज्ञानी में होता है, ज्ञानी को तो अधिष्ठान रूप से सब कुछ अपना आप होता है उसमें रागद्वेष का सम्भव नहीं है। राग का विरुद्ध द्वेष और द्वेष का विरुद्ध राग है उन दोनों का

भेद जहां नहीं है वहां उससे उत्पन्न होने वाले सुख दुःख भी नहीं हैं। मैं अपने आप में ही रमण करता हूँ, सब में मैं ही हूँ।

एक ज्ञानी संत स्वरूपानन्द में मस्त विचर रहे थे। एक दिन कुछ रात्रि वीतने पर एक शहर के मुख्य प्रवेश द्वार पर पहुंचे वहां फाटक वंद हो गया था इससे संत वहां ही लेट गये। उस शहर के राजा की मृत्यु हो गई थी, राजा के वाद राज्यगद्दी का कोई अधिकारी न होने से मंत्रियों ने आपस में सलाह कर रखी थी कि शहर का फाटक खोलते ही जो मनुष्य वाहर से भीतर आवे उसे राजा वना देना। फाटक खोलते ही संत भीतर घुसे, मंत्री लोग वहां खड़े ही थे, तुरन्त संत को स्नान कराकर सुन्दर वस्त्र पहना कर और हाथी पर वैठा कर राज्यस्थान में ले गये और विधिवत् राज्यासन पर वैठा दिया। वहां तक संत ने अपनी तरफ से कुछ न कहा न प्रसन्न ही हुए। मंत्रियों ने हाथ जोड़कर कहा हम आपके आज्ञाकारी सेवक हैं। तव संत ने कहा आप लोगों ने मुझे राज्यासन पर वैठा दिया है तो भी मैं अपने को राजा मानता नहीं, राज्य का सव काम आप लोग ही वुद्धिमानी से कीजिये हम से कुछ भी पूछिये नहीं हानि लाभ के मालिक आप लोग हो मैं तो दो रोटी खाकर मस्त पड़ा रहूँगा। सव ने यह वात मंजूर करली।

कितने दिन व्यतीत होने के वाद एक दूसरा राजा राज्य पर चढ़ आया सव ने मिलकर अपने संत राजा को कहा अव क्यों

करना चाहिये ? संत ने कहा जैसी राजनीति हो ऐसे कार्य करो मुझे पूछते क्यों हो, मुझे कुछ चिंता नहीं है। मंत्री लोग अपनी सामर्थ्य भर लड़े परन्तु हार गये और दूसरे राजा ने राज्य को अपने कब्जे में लेलिया। संत को कुछ भी दुःख न हुआ, वे गये समय का और आने वाले समय का सोच नहीं करते थे वह आनन्द में ही भिक्षा मांग कर खाने लगे।

ज्ञानवान् पुरुष सब प्रसंग में एक सा रहता है लाभ हानि के विकार को प्राप्त नहीं होता, ऐश्वर्य को भोगते हुए हर्षित नहीं होता और संपत्ति के नाश में अथवा कष्ट में दुःखी नहीं होता।

अभयं सर्व भूतानां,
ज्ञानमाहुर्मनीषिणः।
निजानंदे स्पृहानान्ये,
वैराग्यस्यावधिर्मतः ॥१६॥

अर्थः—सब भूतों को अभय देना इसी को विद्वान्-ज्ञान कहते हैं और अपने स्वरूपानन्द की इच्छा करते हुए और किसी की इच्छा न करना यही वैराग्य की अवधि है।

विवेचन।

आत्मज्ञान के लौकिक फल को दिखलाते हैं कि जब तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब सब भूत प्राणियों को ज्ञानी की तरफ से अभयदान मिलता है। सबको अभयदान देना यह भी ज्ञान है। भय का न होना अभय है। एक प्राणी को दूसरे प्राणी, मनुष्य आदिक से भय रहता है, एक एक का वैरी होता है, यह वैर

प्राणियों में स्वाभाविक है। बिल्ली से चूहे को वैर है, बिल्ली चूहे को मार खाती है। कुत्ते को बिल्ली से वैर है, कुत्ता बिल्ली को मार डालता है। कुत्ते को शेर से भय है इसी प्रकार हिंसक प्राणी और विष वाले जीव से मनुष्य का वैर देखा जाता है, मनुष्य मनुष्य में भी वैर होता है। ज्ञान का यह फल है कि ज्ञानी को सब कुछ अपने आप हो जाता है इसीसे वह किसी से वैर नहीं करता, सबको अभयदान ही देता है किसी मनुष्य अथवा जीव जन्तु को ज्ञानी की तरफ से भय नहीं होता। 'मेरी हानि होगी' इस अज्ञान के भाव से मनुष्य दूसरे से वैर करता है, दूसरे को उससे भय रहता है; ज्ञानी ने जिस तत्त्व को अपना स्वरूप समझा है उसकी हानि करने को कोई समर्थ नहीं है इसी से सबसे निर्वैर रहता है, न वह किसी से भय को प्राप्त होता है न उससे दूसरा कोई भय को प्राप्त होता है।

अज्ञान में भय होता है जहां अज्ञान गया वहां भय गया। द्वैत दुःख का स्थान है, जहां द्वैत की भावना नहीं वहां दुःख नहीं है। प्रत्येक मनुष्य शत्रु मित्र अपने भाव से बना लेते हैं; ज्ञान होने से आन्तर में भिन्नता के भाव की निवृत्ति होती है तब भिन्नता से होने वाले भय कैसे हो ? तत्त्व बोध से अपना भय निवृत्त होता है इसी से दूसरे को भय होने का कारण नहीं रहता, प्रत्येक प्राणी में एक ही चैतन्य है, उपाधि युक्त चैतन्य का किया हुआ भाव प्रतिबिम्बित होकर दूसरे में पड़ता है इसी से हम निर्भय हों तो हमारा भाव जिस पर पड़ा वे हम से निर्भय हो गये। निर्भय निशंक होना ही ज्ञानका पूर्ण लक्षण है।

ज्ञान होने के लिये वैराग्य की आवश्यकता थी उससे उसकी अवधि को दिखलाते हैं। सब के नामरूप मिथ्या हैं उसका आधार सच्चिदानंद सत्य, अखंडित और अबाधित है यह ही मेरा निजरूप है ऐसा समझ कर उसमें टिकने को स्पृहा कही है, इस सच्चिदानंद के सिवाय जो कुछ देखने में अनुभव में और वर्ताव में आता है वह सब अवस्तु रूप माया और माया का कार्य है उनमें किंचित् भी इच्छा न रहना, किंचित भी दरकार न करना और स्वस्वरूप के भाव में ही हमेशा टिकना यह वैराग्य की अवधि है, यहां वैराग्य पूर्ण होता है।

स्वस्वरूप के जानने में वाधा पहुंचाने वाले जगत् और जगत् के पदार्थों में राग था इसी से उसे हटाकर स्वस्वरूप जानने के निमित्त वैराग्य को ग्रहण किया था, वैराग्य से सब मिथ्या हो गये तब सत्यस्वरूप का वोध हुआ और उसमें स्थिति होकर अन्य सब तुच्छ होगये। सबकी स्पृहा का नाश होगया यह वैराग्य ने अपना कार्य पूर्ण कर दिया इसीसे अवधि है। मिथ्या जाने हुए मायिक में फिरसे वासना की उत्पत्ति न होना वैराग्य की अवधि है।

वेदान्तैः श्रवणं कुर्यान्,
मननं चोपपत्तिभिः।
योगेनाभ्यसनं नित्यं,
ततो दर्शनमात्मनः ॥१७॥

अर्थः—वेदान्त श्रवण करना चाहिये युक्ति और दृष्टान्तों से उसका मनन करना चाहिये आत्मा से नित्य युक्त होकर निदिध्यासन करना चाहिये ऐसा करने से आत्मा का साक्षात्कार होता है।

विवेचन।

शुभ कर्म और उपासना करके मल और विक्षेप दोष की निवृत्ति के पश्चात् आत्मज्ञान के लिये वेदान्त का श्रवण करना चाहिये। जब तक आत्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बनता तब तक आत्मज्ञान के योग्य ही नहीं है। जीव मल, विक्षेप और आवरण दोष से युक्त है, तीनों दोष की निवृत्ति आत्म बोध से ही होती है, कई अंश में मल दोष को प्रथम निवारण किया जाता है, बाद विक्षेप दोष को निवृत्त करके अधिकारी के लक्षणों से युक्त होकर आवरण दोष को निवृत्त करने का सामर्थ्य होता है। शुभ कर्मों से मल दोष की निवृत्ति होती है, उपासना से विक्षेप-चंचलता की निवृत्ति होती है और आत्म बोध से आवरण की निवृत्ति होती है। कर्म उपासना करके मल विक्षेप की निवृत्ति के पश्चात् आवरण निवृत्ति रूप आत्म बोध के हेतु अन्य सब शास्त्र श्रवण को छोड़ कर विधिवत् ब्रह्मनिष्ठ गुरु के शरण में जाकर वेदान्त का श्रवण करना चाहिये। संपूर्ण जगत् ब्रह्म स्वरूप है ऐसे दृढ़ बोध के पश्चात् कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता ऐसे आत्म बोध कराने वाले, अपने से परब्रह्म अभिन्न जतलाने वाले वाक्यों का नाम वेदान्त है, संपूर्ण ज्ञान का एक ब्रह्मस्वरूप में ही अन्त हो जाना वेदान्त है वेद के अंतिम रहस्य को वेदान्त कहते हैं, जगत् के दुःखों की अत्यंत निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति

वेदान्त है, उपनिषद् वेदान्त कहा जाता है अथवा जिससे अध्यात्मिक अभेद बोध हो यह सब वेदान्त कहलाता है। वेद में विधि वाक्य और स्वरूप वाक्य हैं, विधि वाक्यों का उपयोग कर्म और उपासना में है। स्वरूप वाक्य दो प्रकार के हैं, परोक्ष बोध के जनक अवान्तर वाक्य हैं और अपरोक्ष बोध के जनक महावाक्य हैं। वेदान्त का श्रवण गुरु मुख से ही करना चाहिये योग्य अधिकारी को गुरु मुखसे श्रवण किया हुआ वेदान्त फलदाता होता है। जिसमें श्रद्धा नहीं है, जो ब्रह्मनिष्ठ नहीं है, अद्वैत तत्त्व का उपदेश करने वाला नहीं है वह गुरु नहीं है। जो शिष्य को अद्वैत आत्म तत्त्व का ग्रहण कराने वाला हो वह ही गुरुपद के योग्य है। गुरु रहित शास्त्र से भी बुद्धि द्वारा कोई आत्म बोध को प्राप्त नहीं होता। आत्मा से अभिन्न परब्रह्म का बोध ही आत्म बोध है महावाक्य से भाग त्याग लक्षणा द्वारा विचार पूर्वक स्वस्वरूप का बोध होता है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु से विधिवत् वेदान्त का श्रवण करना श्रवण कहलाता है।

सद्गुरु से जो श्रवण किया है उसका बारंबार विचार करना मनन है। सुनी हुई बात को मन धारण कर ले उसे मनन कहते हैं, श्रवण का अभ्यास रूप मनन होता है। श्रवण मन में ही दृढ़ता को प्राप्त हो वहां तक मनन है और मन से आगे जाकर स्वरूप का स्पर्श करले तब निदिध्यासन कहलाता है। मन अनात्म भाव से भरा हुआ है, मल विक्षेप की निवृत्ति करते हुए भी पूर्व और वर्तमान जगत् की सत्यता से पड़े हुए और पड़ते

जात संस्कार रूप प्रतिबंधसे किये हुए श्रवणको मन अपने में धारण करने में असमर्थ होता है इसीसे उपदेश को मन में धारण करने का जो प्रयत्न है उसे मनन कहते हैं। जैसे अबुध मनुष्य कोई बात एक समयके समझाने से ग्रहण नहीं कर सकता, जिस प्रकार उसे अनेक युक्ति और दृष्टान्तों से वारंवार कथन करके समझा सकते हैं इस प्रकार अबुध मन को समझाना चाहिये। वेदान्त की कई प्रकार की प्रक्रियां इसी निमित्त हैं। जिस प्रक्रिया से जिसे ग्रहण हो उसके लिये वह कल्याण करने वाली है। लौकिक दृष्टान्तों का अनुकूल अंश ग्रहण करने से मनन होता है। मनन से श्रवण का संशय निवृत्त होकर बुद्धि सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण करने के योग्य होती है, आत्म भाव से मन मांजा जाता है और मनन से दृढ़ होता है।

मनन से निर्मलता को प्राप्त बुद्धि की वृत्ति आत्म भाव से व्याप्त हो उसी का नाम निदिध्यासन है। मनन के पश्चात् बुद्धि आत्मा से योग करती है यह ही आत्म योग अथवा योगाभ्यास है। मनन से जो परब्रह्म का परोक्ष बोध हुआ था वह निदिध्यासन से अपरोक्ष होता है, निदिध्यासन की पराकाष्ठा ही निर्विकल्प समाधि है उसी में ब्रह्म-आत्मा की एकता का अपरोक्ष बोध होता है, इस बोध की दृढ़ता से मनुष्य कृतार्थ होता है। श्रवण किया हुआ बोध जो मनन के समय में मन में धारण किया था वह शुद्ध बुद्धि के सहारे आत्म भाव की व्याप्त बुद्धि द्वारा स्वप्रकाश से प्रकाशित अपरोक्ष तत्त्व का बोध होता है। मन ने धारण किया बोध मन में न रह कर तत्त्व में तत्त्व का बोध

होता है उसका अभ्यास निदिध्यासन है निदिध्यासन से तत्त्व बोध के पश्चात् जगत् और जीव भाव का मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है और मैं अखंड एक रस भावाभाव से विलक्षण आत्म स्वरूप सच्चिदानन्द हूं इस प्रकार आश्चर्य जनक उसको प्रत्यक्ष होता है। जिसे ज्ञान समाधि कहते हैं वह निदिध्यासन पूर्ण होने के बाद की स्थिति है इस अवस्था में प्राण निरोध आदि योग की शारीरिक और मानसिक क्रिया की आवश्यकता नहीं है, जगत् के व्यवहार व्यवहार की रीति से होते हैं और उसका टिकाव तत्त्व में होता है, द्वैत को देखता है व्यवहार द्वैत में होता है परन्तु ज्ञानी के निश्चय में द्वैत नहीं होता, उसकी अद्वैतता का कभी भी लोप नहीं होता, द्वैताद्वैत के भाव से रहित उसकी स्वरूप स्थिति होती है। साध्य, साधक, साधन, ध्याता, ध्यान और ध्येय इनका सम्बन्ध आत्म बोध के साधन में है ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अखंड आनन्द तत्त्व के ही स्वरूप में ज्ञानी का टिकाव होता है।

शब्द शक्तेरचिंत्यत्वा-,
च्छब्दादेवापरोक्षधीः ।
सुप्तः पुरुषो यद्व-,
च्छब्दे नैवानु बुद्ध्यते ॥१८॥

अर्थः—शब्द में अचिन्त्य शक्ति है जैसे सोये हुए मनुष्य को जाग्रत किया जाता है इसी प्रकार शब्द (सद्‌गुरु के उपदेश) से अपरोक्ष (आत्म) ज्ञान होता है।

विवेचन ।

चित्त जिसका चिंतन कर नहीं सकता ऐसी अचिंत्य शक्ति शब्द में रही हुई है। सम्पूर्ण सृष्टि का फैलावा शब्द यानी शब्द ब्रह्म से हुआ है, जैसे शब्द से सृष्टि की रचना हुई है वैसे उसकी निवृत्ति भी शब्द से ही होती है। वेद का प्राण जिसका संपूर्ण वेद विस्तार है ऐसा ॐ ही शब्द है, ॐकार में ही सब विस्तार है ॐकार में सब की स्थिति है और ॐकार में ही सबका लय है, वह ही दृश्यादृश्य सबका आधार है। माया और अविद्या से जो विस्तार है वह शब्द ब्रह्म का ही है और अविद्या माया की निवृत्ति करने वाला भी शब्द ब्रह्म है। शब्द वेद को कहते हैं वेद शब्द स्वरूप है। वेद के सहारे कर्म उपासना में लगने से संसार का विस्तार है और वेद स्वरूप ॐकार के अमात्र के बोध से संसार की निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति है। शब्द से ही नाम रूप का निर्माण हुआ है और शब्द स्वरूप ही अस्ति भाति प्रिय रूप सच्चिदानन्द है। शब्द जिसका गुण है ऐसा आकाश सबको अवकाश देता है इसी प्रकार ॐ शब्द से ही सब सृष्टि का भास होता है।

मैं एक से बहुत होऊं ऐसे शब्द से माया युक्त ईश्वर से सृष्टि की रचना है जैसे जैसे शब्द निकलता गया वैसे वैसे सृष्टि होती गई बाद जाग्रत में जीव का उत्थान होकर मैं हूँ के उच्चारण के साथ ही जीव भान और जीव सृष्टि का भान होने लगा।

इसी प्रकार जो कुछ है सब शब्द रूप है। अज्ञान में शब्द है ज्ञान में शब्द है और ज्ञानाज्ञान भाव रहित अद्वैत तत्त्व भी शब्द का कारण होने से शब्द ही है। शब्द में कैसी शक्ति है उसका कोई विवेचन नहीं कर सकता जैसे ब्रह्म का तटस्थ भाव के सिवाय अन्य प्रकार से विवेचन नहीं होता ऐसे उसकी शक्ति का भी विवेचन नहीं होता। अर्थात् सब कुछ शब्द रूप है, सृष्टि में गिरना शब्द से है इसी प्रकार सृष्टि से-अज्ञान से निकाल कर आत्म तत्त्व को प्राप्त कराने वाला भी शब्द है।

शब्द से आत्मा-परमात्मा का ज्ञान होता है। ज्ञान दो प्रकार का है, परोक्ष और अपरोक्ष। परोक्ष ज्ञान आड़ सहित होता है और अपरोक्ष ज्ञान आड़ रहित होता है। परोक्ष ज्ञान बुद्धि में रहे हुए चिदाभास से प्रकाशित होता है और अपरोक्ष ज्ञान स्वयं ज्ञान स्वरूप से प्रकाशित होता है। आत्मा-ब्रह्म का जिसमें सामान्य बोध होता है वह परोक्ष ज्ञान होता है जैसे व्यवहारिक पदार्थ का परोक्ष ज्ञान होता है इसी प्रकार यह भी है, ब्रह्म है, व्यापक है, सच्चिदानन्द है, अखंड है एक रस है इसी प्रकार ज्ञाता से भिन्न जाना जाता है तब परोक्ष ज्ञान कहलाता है। परोक्ष जाना हुआ भी यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान नहीं है परोक्ष ज्ञान से असत्वापादक आवरण की निवृत्ति होती है, ब्रह्म नहीं था सो है ऐसा ज्ञान होता है। अपरोक्ष ज्ञान तो यथार्थ ज्ञान ही है, इससे जगत् की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

जैसे सोये हुए मनुष्य को जाग्रत अवस्था का कुछ भी बोध नहीं होता, जाग्रत के मैं और मेरे का ज्ञान नहीं होता। नींद में

सुषुप्ति अथवा स्वप्न होता है, सुषुप्ति में अभाव और स्वप्न में स्वप्न सृष्टि का ही भान है; जब किसी कारण से उसे नींद में से जाग्रत करना होता है तब कोई मनुष्य उसके पास जाकर उसका नाम लेकर पुकारता है, पुकारने से वह जाग्रत होजाता है, नींद चली जाती है। इसी प्रकार अज्ञान की नींद में पड़े हुए जीव को अज्ञान निद्रा में से हटाकर स्वरूप में जाग्रत करने के लिये सद्गुरु का शब्द काम देता है। जैसे नींद में पड़े हुए को जाग्रत अवस्था के शब्द से पुकारा तब शब्द नींद में पहुँच गया और उसने ही नींद को तोड़ कर जाग्रत किया। इसी प्रकार मुमुक्षु को वेदान्त श्रवण से जगत् की सत्यता में खलबली मच जाती है; यह परोक्ष ज्ञान है, पश्चात् अपरोक्ष ज्ञान होते ही अज्ञान चला जाता है और वह स्वस्वरूप में जाग्रत होजाता है।

जैसे दस मनुष्य एक नदी के पार जाने को चले, वे नदी में तैर कर पार जा रहे थे, नदी में पानी का जोर अधिक होने से कुछ बहते हुए वे लोग पार पहुँच गये वहां जाकर देखा कि नदी के बहाव में हममें से कोई रह तो नहीं गया है। घबराहट में ही सबको गिन डाले तो नव हुए ऐसा जान शोच करने लगे कि हमारे में से एक मनुष्य डूब गया, दस के नव रह गये। इसी प्रकार अन्य सबको गिनते हुए अपने को किसी ने गिना नहीं इसीसे सबकी गिनती नव ही हुई; तब सबने निश्चय किया कि एक डूब गया। सब बैठकर रोने लगे। वहां से एक मनुष्य जा रहा था उसने सबको रोते हुए देखकर पूछा तुम सब क्यों रोरहे हो? तब उसीमें से एक ने कहा, हमारे में से एक मनुष्य डूब गया है, हम

दस नदी में उतरे थे बाहर नव ही निकले हैं इसीसे हम रोते हैं। उस मनुष्य ने वहां दस मनुष्य बैठे हुए देखकर विचारा यह अज्ञानी हैं अज्ञान से रो रहे हैं, उसने कहा तुम लोग तैरते हुए आ रहे थे मैं देखता था तुम्हारे में से कोई डूबा नहीं है तुम दसवें को डूबा हुआ बताते हो मैं दसवें को जानता हूं वह डूबा नहीं है। उस मनुष्य के वचन के ऊपर सबको विश्वास हुआ और दसवां है डूबा नहीं है ऐसा जानकर प्रसन्न हुए परन्तु दसवां कौन है? कहां है? उसका बोध नहीं हुआ। सज्जन के वाक्य से दसवां होने का बोध होना दसवां का परोक्ष ज्ञान है। फिर उन मनुष्यों में से एक ने पूछा, दसवां कहां है? कौन है? तब उस सज्जन ने कहा:- यहां ही है दसवां तू है तब वह विचार में पड़ गया कि दसवां मैं किस प्रकार हो सकता हूँ? तब सज्जन मनुष्यने सबको एक लाइन में बैठा कर गिना दिया आखिर में बैठे हुए को कहा गिन ये नव हुए और दसवां तू है। इस प्रकार सबने गिनकर भली प्रकार जान लिया कि डूबा कोई नहीं है हम सब अन्य को गिनते थे अपने को गिनते नहीं थे, न गिना गया और जिसको डूबा समझते थे वह तो मैं ही हूँ ऐसे अपरोक्ष ज्ञान से सुखी हुए।

आत्मानात्मविवेकेन,
ज्ञानं भवति निर्मलम्।
गुरुणा बोधितः शिष्यः,
शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ १६ ॥

अर्थः—आत्मा और अनात्मा के विवेक से मुमुक्षु को शुद्ध ज्ञान हो जाता है; शिष्य को गुरु द्वारा उपदेश होने से वैदिक कर्म और उपासना के समस्त फलों से भी अधिक फल की प्राप्ति होती है।

विवेचन।

ज्ञान का मुख्य साधन आत्म-अनात्म विवेक है, इसीसे आत्मा कौन है ? अनात्मा कौन है ? जल्दी से समझ में आ जाता है। संसार दशा में एकमेक हो जाने से ठीक बोध नहीं होता, इस विवेक से आत्म बोध होकर संपूर्ण अनिष्ट की निवृत्ति होती है।

जो कुछ देखने में आता है यानी इन्द्रियों के विषय होते हैं, जो कल्पना में आता है यानी मन बुद्धि का विषय होता है, जो परिच्छिन्न है, चंचल है, विकारी है, उत्पत्ति नाश वाला है, जो दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष है, जो भेद युक्त है, माप वाला है और सुख दुःख का हेतु है वह सब अनात्म है। सब अनात्म, दृश्य कहा जाता है।

जो लौकिक दृष्टि यानी इन्द्रियों का विषय नहीं है, लौकिक प्रकाश जिसको प्रकाशित नहीं कर सकता, जिसको मन बुद्धि समझ नहीं सकती जो आदि अन्त रहित है, अमाप है, ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न अविकारी वस्तुस्वरूप है, अखंड एक रस है और जो सत् चित् आनन्द स्वरूप है वह आत्मा है। एक ही आत्मा सब में रहा हुआ है, उसी के प्रकाश से सब अनात्म प्रकाशित होता है। इन लक्षणों से आत्मा को समझ कर, अन्य सब अनात्म है ऐसा जान

कर अनात्म भाव को हटाकर आत्म भाव में टिकने का नाम विवेक है।

संसार अविवेक स्वरूप है; इसलिये संसार और उसके दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति विवेक ज्ञान से होती है। अनात्म को अनात्म समझने से उसकी कोई भी महत्वता-कीमत नहीं रहती, उसमें मोह नहीं होता और अनेक प्रकार से दुःख देने वाली कामना का भी अभाव हो जाता है। आत्मा को आत्मा समझने से मैं शुद्ध स्वरूप हूं, अखंड और विकार रहित आत्मा हूं ऐसे संशय विपर्य रहित निर्मल अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह आत्म बोध स्वयं स्वप्रकाश से प्रकाशित है, लौकिक जितने ज्ञान हैं, वे अविद्या के होने से अविद्या से युक्त चिदाभास से प्रकाशित होते हैं इसीसे लौकिक ज्ञान मलीन हैं।

ऐसा अपरोक्ष ज्ञान सद्गुरु द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि अलौकिक बोध लौकिक शब्दों द्वारा कराने का सामर्थ्य सद्गुरु और उनके उपदेश में ही होता है। गुरु में यह महान् शक्ति होती है कि अनादि अज्ञान की नींद में पड़े हुए शिष्य को अपने आद्य स्वरूप में जाग्रत कर दे। जो स्वयं ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ नहीं है, शास्त्र के कथन करने की जिसमें सामर्थ्य नहीं है ऐसे गुरु से शिष्य की शंका निवारण होकर उसे अपरोक्ष बोध नहीं होता। दूज का चन्द्र बहुत छोटा होने से किसी को जल्दी नहीं दीख पड़ता, जब कोई उसे देख लेता है और दूसरों को दिखलाना चाहता है, तब कोई पेड़ की शाखा अथवा अपनी अंगुली के सहारे दिख-

लाता है। पेड़ की शाखा को दिखलाते हुए अथवा अंगुली को खड़ी करके उसके अग्रभाग में देख इस प्रकार कथन करता है देखने वाला पुरुष बताये हुए इशारे से चंद्र को देख लेता है यदि वह पेड़ की शाखा अथवा अंगुली के अग्रभाग को देखता ही रह जाय तो उसे चंद्र दीखता नहीं है अथवा अंगुली लक्ष बांधने के लिये ही है जब उसके सहारे से सीध बांध कर उसे छोड़कर देखता है तब चंद्र दीखता है। इसी प्रकार सद्गुरु के उपदेश-वाक्य के सहारे लक्ष को करता है शब्द को छोड़ कर ही लक्ष्य होता है तब यथार्थ बोध होता है।

तत्त्वमसि महावाक्य इसी प्रकार लक्ष पहुंचाने के लिये है। तत्-वह ईश्वर, त्वं-तू जीव असि-है। शुद्ध चेतन और माया की उपाधि सहित ईश्वर तत् शब्द का वाच्यार्थ है और माया की उपाधि रहित शुद्ध चेतन तत्-ईश्वर का लक्ष्यार्थ है। त्वं-तू जीव शुद्ध चेतन और अविद्या की उपाधि सहित जीव का वाच्यार्थ है और अविद्या की उपाधि रहित शुद्ध चेतन त्वं-जीव का लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार दोनों के वाच्यार्थ को छोड़ कर दोनों के लक्ष्यार्थ की एकता है, इस एकता से परमात्मा से अभिन्न आत्मा का बोध होता है।

शिष्य गुरु के उपदेश किये हुए शब्द से लक्ष पहुँचे हुए शब्द को छोड़ कर तत्त्व बोध को करता है, इसीसे लौकिक बोध से उसकी विलक्षणता है। लौकिक बोध, अन्य अन्य का करता है और आत्म बोध अपने आत्मा का होता है। शब्द ब्रह्म-ब्रह्मलोक

है जिसे कार्य ब्रह्म कहते हैं; जिस शिष्य को आत्मा का अपरोक्ष बोध होता है वह उससे भी आगे जाता है। कार्य ब्रह्म माया की उपाधि से युक्त है इससे उपाधि को छोड़ कर निर्मल तत्त्व जो कारण ब्रह्म है उसी का बोध कर लेता है। दो ब्रह्म हैं, कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्म। कार्य ब्रह्म को शब्द ब्रह्म कहते हैं और कारण ब्रह्म को परब्रह्म कहते हैं। शब्द ब्रह्म को जान कर परब्रह्म जाना जाता है: जब शब्द ब्रह्म को भी छोड़ जाता है तब परब्रह्म का बोध होता है। परब्रह्म का बोध परब्रह्म जो अपना शुद्धात्मा है उसमें होता है बाद जो टिकाव होता है वह शब्द ब्रह्म से आगे होता है क्योंकि वह शब्द ब्रह्म से आगे परब्रह्म में पहुंचा है यानी कारण ब्रह्मरूप सद्योमुक्ति को प्राप्त होता है।

न त्वं देहो नेंद्रियाणि,
न प्राणो न मनो न धीः।
विकारित्वाद्विनाशित्वाद्,
दृश्यत्वाच्च घटो यथा ॥२०॥

अर्थः—देह, इन्द्रियां, प्राण, मन, बुद्धि यह सब घटके समान विकारी, विनाशी और दृश्यरूप होने से ये तू नहीं है।

विवेचन।

मिट्टी के घट को सब कोई जानते हैं कि यह जड़, उत्पत्ति नाश वाला, क्षण क्षण में बदल कर विकार को प्राप्त होने वाला और देखने का विषय रूप है। इसी प्रकार जो तेरा दीखता हुआ

स्थूल शरीर सब प्रकार से व्यवहार करने वाला है और उनमें रहा हुआ सूक्ष्म शरीर और इन दोनों शरीरों का कारण रूप शरीर तू नहीं है यह मायिक घट के समान है।

स्थूल शरीर अस्थि, मांस, मज्जा, रक्त, मेद, त्वचा और नाड़ी का समूह है। रक्त और वीर्य से जन्म होता है, पंचभूत के पंचीकरण किये हुए पचीस तत्त्वों से बनता है। अस्थि, त्वचा, नाड़ी, और मांस पृथ्वी के अंश हैं। शुक्र, शोणित, लार, स्वेद और मूत्र जल के अंश हैं। क्षुधा, तृषा, निद्रा, मैथुन और आलस्य अग्नि के अंश हैं। फैलना, दौड़ना, मूंदना, चलना और सकोड़ना वायु के अंश हैं। काम, क्रोध, मोह, भय और शोक आकाश के अंश हैं। इससे इनसे बना हुआ स्थूल शरीर तू नहीं है क्योंकि तू विकार रहित है और स्थूल शरीर जन्मता है, युवा होता है, क्षीण होता है, बूढ़ा होता है और मरता है, इस प्रकार विकार वाला है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से चेष्टा करता है और परतन्त्र है।

सूक्ष्म शरीर सतरह तत्त्वों का बना हुआ है, सूक्ष्म भाव युक्त है; अपंचीकृत पंचमहा भूतों का बना हुआ है। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन और बुद्धि का समुदाय रूप है यह शरीर भी उत्पत्ति नाश वाला और विकारी होने से सत् नहीं है। यह सूक्ष्म शरीर अविद्या का और जड़ है; और कारण शरीर और स्थूल शरीर सहित कार्य में समर्थ होता है; कारण शरीर भेद रहित अविद्या रूप है और अबोध है अपना और दूसरों का बोध

उसे नहीं होता, तू तो शुद्ध बोध स्वरूप सच्चिदानन्द है इसी से सूक्ष्म और कारण शरीर तू नहीं है।

इंद्रियां दस हैं पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां; ज्ञानेन्द्रियमें ज्ञान शक्ति है और कर्मेन्द्रिय में क्रिया शक्ति है। कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं वे अपने अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को ग्रहण करती हैं, परिच्छिन्न और विकारी हैं। मुख, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा पांच कर्मेन्द्रिय हैं वे अपने अपने विषय बोलना, लेना, देना, चलना, वीर्य त्याग और मल त्याग रूप क्रियायें करती हैं। वे इन्द्रियां तू नहीं है तेरे में विकार, विकारी बोध और क्रिया का अभाव है वे सब उत्पत्ति नाश वाली हैं तू अखंड है।

प्राण एक ही है तो भी क्रिया भेद और स्थान भेद से पांच प्रकार का होता है और उपप्राण तो बहुत प्रकार के हैं, यह सब जड़ और विकारी हैं स्थूल शरीर के सहारे इनकी स्थिति है और अबोध रूप है इसीसे प्राण तू नहीं, तू तो प्राणादि सबका द्रष्टा अविकारी है।

संकल्प विकल्प करने वाला मन है और निश्चय करने वाली बुद्धि है। मन और बुद्धि कभी हो और कभी न हो इस प्रकार विकारी हैं, तू अविकारी होने से मन बुद्धि नहीं है; तू मन बुद्धि का आधार और प्रकाशक है मन बुद्धि तेरे प्रकाश से प्रकाशित होते हैं तू शुद्ध है।

तीनों शरीर, दशों इन्द्रियां, मन, बुद्धि, प्राण मायिक होने से तू नहीं है तेरे में और उनमें कोई साम्यता नहीं है। तू शुद्ध आवेकारी है और वे सब जड़ घट के समान ही हैं।

विशुद्धं केवलं ज्ञानं,
निर्विशेषं निरंजनम् ।
यदेकं परमानंदं,
तत्त्वमस्यद्वयं परम् ॥२१॥

अर्थः—अति शुद्ध निर्विशेष निरंजन अद्वय एक परमानन्द और ज्ञान स्वरूप वह परब्रह्म तू है।

विवेचन

कोई एक शिष्य अधिकारी के लक्षणों से युक्त होकर गुरु के शरण में जाकर गुरु के समीप वास करके एक समय गुरु की प्रसन्नता देखकर बोलाः—हे गुरुदेव ! कृपा करके आप बतलाइये कि मैं कौन हूं मैं अपने को जानता नहीं हूं मेरा स्वरूप क्या है ? योग्य शिष्य की योग्यता सहित ब्रह्म' जिज्ञासा को देखकर गुरुदेव प्रसन्नता से बोले कि हे शिष्य ! परब्रह्म ही तेरा स्वरूप है, परब्रह्मसे अन्य तू नहीं है। इस प्रकार कई विशेषणों से युक्त अपना स्वरूप शिष्य को समझाया है।

कई पदार्थों में ऐसी सामर्थ्य होती है जो दूसरों को शुद्ध कर देते हैं जैसे क्षार और साबुन इत्यादि, कोई पदार्थ ऐसा होता है जो स्वयम् शुद्ध होकर दूसरे को भी शुद्ध कर देता है जैसे जल।

ऐसे पदार्थ से जो शुद्धि होती है और उसमें जो शुद्धि है वह कुछ समय की ही होती है। जितने मायिक पदार्थ हैं शुद्ध हों तो भी हमेशा शुद्ध रहने वाले नहीं हैं क्योंकि सब परिवर्तन वाले और असत् स्वरूप प्रथम से ही हैं। इसीसे जो सदा शुद्ध रहता है और जिस करके शुद्ध हुआ पदार्थ भी कभी अशुद्ध नहीं होता ऐसा एक परब्रह्म ही है इसी कारण परब्रह्म को विशुद्ध कहा है। परमात्मा स्वयम् शुद्ध स्वरूप है और अन्य को भी बोध मात्र से शुद्ध करने वाला है इसके समान और कोई शुद्ध नहीं है। उसके स्वरूप की पवित्रता का जिसे बोध हो जाता है वह भी सदा के लिये परब्रह्म हो जाता है।

परमात्मा को केवल ज्ञान कहते हैं। केवल ज्ञान कहने से जिसमें केवल ज्ञान ही है, ज्ञान सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, जैसे मिसरी में मिठास को छोड़ कर और कुछ भी नहीं है, जैसे नमक में नमकीन छोड़ कर और कोई वस्तु नहीं है इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप ही परब्रह्म है। ज्ञान परिमित नहीं है अमाप होने से पृथकता रहित अखंड है इसी से उसको ज्ञानघन भी कहते हैं। सत् चित् आनन्दादि विशेषणों से भी ज्ञानघन में कोई बाधा नहीं होती। एक ही ज्ञानघन को मुमुक्षुओं के समझाने के लिये सच्चिदानन्द कह कर तीन प्रकार से कथन किया है। परमात्मा ज्ञान गुण वाला नहीं है, जो गुण होता है वह बढ़ता घटता है कभी हो और कभी नहीं हो; परन्तु जो स्वरूप होता है वह हमेशा रहता है, जैसे घट का स्वरूप मिट्टी है। आदि अंत और मध्य में मिट्टी

न हो और घट हो, ऐसा नहीं है, इसी प्रकार परब्रह्म ज्ञान स्वरूप है।

जिसमें किसी प्रकार की अधिकता हो उसे विशेष कहते हैं और सब के अन्त में जो बचा हुआ हो उसे शेष कहते हैं इस प्रकार जिसमें विशेष और शेषत्व नहीं हो उसे निर्विशेष कहते हैं। सृष्टि के अन्त में सब का नाश जिसमें होता है ऐसी एक माया शेष रहती है यह शेषत्व भी जहां नहीं है ऐसा परब्रह्म निर्विशेष है। परब्रह्म के सिवाय निर्विशेष और कोई नहीं है। माया की विक्रिया विशेष है, विक्रिया का न होना शेष है और इन सब का आधार होने से परब्रह्म निर्विशेष है।

जो लेपायमान नहीं होता उसे निरंजन कहते हैं। सब कुछ एक दूसरे से लेपायमान होकर विकारी होने वाला है, सब मैले होते हैं और जिसमें मैल नहीं है जो विकार को प्राप्त होता नहीं वह निरंजन है। परब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म, पारमार्थिक सन् स्वरूप होने से माया और माया के व्यवहार से कभी विकारी नहीं होता इसीसे निरंजन है। अखंड है इसीसे उसे एक कहा है, जैसी जगत् में अनेकता है ऐसी वहां नहीं है उसके लक्ष के लिये एक कहा है। अविद्या में पड़े हुए मनुष्यों को अविद्याकृत अनेकता का भान होता है परन्तु सब का आधार जो परब्रह्म है वहां अनेकता नहीं है वह सजातिय, विजातिय और स्वगत भेद से रहित है, वह एक अव्यक्त ही है।

इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से विषय में प्रियता का भान होता है। यह प्रियत्व का भान व्यवहारिक और प्रातिभासिक

दोनों सत्ता में होता है लोग उसे आनन्द कहते हैं। स्वरूप का आनन्द ही चित्त की एकाग्रता द्वारा अविद्या में प्रतिबिम्बित हुए आनन्द को लोग आनन्द मानते हैं ऐसे सब आनन्दों का खजाना और सब प्रतिबिम्बों के बिम्ब रूप को परमानन्द कहते हैं। इस परमानन्द का कभी क्षय नहीं होता वही परम प्रेम का विषय परब्रह्म है।

द्वैत के भाव वाले को परब्रह्म समझाने के लिये द्वैत नहीं है ऐसे अद्वैत का वर्णन किया जाता है। दोपने—भिन्नता को द्वैत कहते हैं। मैं तू वह आदि सब द्वैत हैं, द्वैत रूप दुनिया है, ऐसा जहां नहीं हो यानी मैं तू वह का भेद न हो, दोपना अथवा भिन्नता नहीं है ऐसा परब्रह्म का स्वरूप होने से उसे अद्वैत कहते हैं यह अद्वैत ही सब से पर यानी परम है। माया अविद्या की उपाधि करके सबका भास होता है इन सब से पर होने से परम कहा है।

हे शिष्य, मैंने तुझे परब्रह्म को कई प्रकार से विधेय और निषेध विशेषणों से समझाया है, वह परब्रह्म तू ही है। परब्रह्म सब का आत्मा होने से सब परब्रह्म स्वरूप ही है। तू अविद्या की उपाधि से ईश्वर, माया, जगत् और अपने को भिन्न समझ रहा है और जीव को भी अनेक मानता है यह सब अज्ञान से होता है। अज्ञान और माया जो कार्य कारण भाव वाले हैं उनको हटा कर देख, तेरा शुद्ध स्वरूप परब्रह्म ही है। वेद के महावाक्यों द्वारा जीव और ईश्वर की तत्त्व से एकता होती है इसी प्रकार

भावाभाव को हटाकर अपने आद्य स्वरूप को समझ। जिससे सबको सत्ता स्फूर्ति मिलती है जिसके होने से सब है जिसके प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं और जिसके आनन्द से सब आनन्दित होते हैं वह परम तत्त्व तू ही है, तेरा आत्मा ही पारमार्थिक परब्रह्म स्वरूप है।

> शब्द स्याद्यंतयोः सिद्धं,
> मनसोऽपि तथैव च ।
> मध्ये साक्षितया नित्यं,
> तदेवत्वं भ्रमं जहि ॥२२॥

अर्थः—शब्द के आदि और अन्त के मध्य में वैसे ही मन की वृत्ति के आदि और अन्त के मध्य में साक्षी रूप से नित्य प्रकाशमान है वही (परब्रह्म) तू है, ऐसा जान कर भ्रम से मुक्त हो।

विवेचन।

शब्द से संसार और शब्द के सहारे निशब्द तत्त्व में प्राप्त होने से संसार की निवृत्ति है। शब्दोच्चारण के आदि और अन्त के मध्य में शब्द का आधार रूप तत्त्व विद्यमान है वह तेरा साक्षी है। ऐसे बोध के निमित्त दिखलाते हैं कि जब शब्द का उच्चारण होता है तब उच्चार का आरम्भ शब्द की आदि है और शब्द का उच्चारण शांत होता है यह अन्त है, इन आदि अन्त के मध्य में आदि अन्त के भाव रहित जो शब्द तत्त्व रहा है वह परम तत्त्व है यह ही सब किसी का अपना आप शुद्ध चैतन्य स्वरूप है वह

ही साक्षी है। जिस प्रकार शब्द के आदि अन्त को छोड़कर मध्य तत्त्व का ग्रहण किया है इसी प्रकार किसी अन्य का किये हुए शब्दोच्चार की आदि अन्त को छोड़कर मध्य तत्त्व को परब्रह्म रूप समझना। ऐसे ही पांचों इन्द्रिय में समझा जाता है। स्पर्श की आदि अन्त को छोड़कर मध्य को ग्रहण कर सकते हैं। स्पर्श का आरंभ स्पर्श की आदि है, स्पर्श से रहित होना स्पर्श का अन्त है पदार्थ में स्पर्श है स्पर्श का ज्ञाता है स्पर्श की भिन्नता का भान है यह सब छोड़कर रहा हुआ मध्य साक्षी है। स्पर्श, पदार्थ और ज्ञाता सब को एक साथ प्रकाशित करने वाला सब के मध्य में रहा हुआ ज्ञप्ति तत्त्व है। रूप में भी रूप के आदि अन्त को छोड़कर रूप का भी सहारा छोड़कर शेष रहा हुआ एक रस ज्ञान परब्रह्म स्वरूप है। इसी प्रकार रस ज्ञान के सहारे से भी तत्त्व का बोध कर सकते हैं। रस के आदि अन्त को छोड़कर मध्य में रहा हुआ साक्षी परम तत्त्व है जिससे रस ज्ञान की सिद्धि होती है ऐसे सम्बन्धी को पकड़ते हुए सम्बन्ध को छोड़कर बोध करना चाहिये। गंध ज्ञान में भी गंध की आदि और अन्त को छोड़कर, सम्बन्ध ज्ञाता और विकारी ज्ञेय को छोड़कर तत्त्व से तत्त्व को परम तत्त्व समझना, इस प्रकार तत्त्व का निर्मल बोध होता है। यह तत्त्व मध्य में ही है ऐसा नहीं है सब देश, काल और सब में रहा हुआ है उपाधि में समझना कठिन होता है इससे उपाधि के मध्य में बोध कराया है। जब किसी के मध्य में उस तत्त्व का भली प्रकार बोध हो जाता है तब पदार्थ और आदि मध्य में भी परम तत्त्व जाना जाता है।

जैसे शब्दादिक के मध्य में परम तत्त्व समझा जाता है वैसे ही मन की वृत्तियों द्वारा भी समझा जाता है। मन की वृत्तियां उदय अस्त होती रहती हैं। मन की वृत्तियों के उदय अस्त से विकारी मन की स्थिति है, यह मन ही परम तत्त्व के ज्ञान में आड़ रूप है, इसीसे जहां मन की वृत्ति का अथवा वृत्ति के सम्बन्ध का अभाव है ऐसे मन के उदय अस्त के मध्य में रहा हुआ तत्त्व परब्रह्म है ऐसा समझना चाहिये। जैसे मन की वृत्ति के मध्य में समझते हैं इसी प्रकार बुद्धि वृत्ति आदि के मध्य में समझ लेना चाहिये।

स्थूल पदार्थों में भी इसी प्रकार समझ सकते हैं। पदार्थ को आदि अन्त छोड़ कर मध्य के भाव को भी छोड़ कर नाम रूप का त्याग करके अविद्या और अविद्या के भाव को हटा कर शुद्ध बुद्धि के सहारे जानने से एक अखंड तत्त्व का ही बोध होता है, यह तत्त्व ही परम तत्त्व है और वह ही तेरा शुद्ध स्वरूप है। उसका बोध न होने में ही संसार और संसार के अनेक प्रकार के कष्ट हैं। भिन्न भाव ने ही एक अद्वैत तत्त्व को अज्ञान से ढापा है इससे आद्य तत्त्व का पूर्ण बोध होने से अज्ञान सहित भिन्न भाव की निवृत्ति होकर स्वस्वरूप में स्थिति होती है।

मेघ का आधार तत्त्व आकाश है आकाश में ही मेघ की उत्पत्ति और नाश होता है; इसीसे आदि अन्त और मध्य सब समय आकाश विद्यमान रहता है। मेघ की उत्पत्ति से आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। आकाश घर, मेघ, घट

और सब पदार्थ के मध्य में विद्यमान ही रहता है; इसी प्रकार इन्द्रियों के विषय ज्ञान की उत्पत्ति में मन वृत्तियां प्राण आदि सब क्रिया में सब का आधार परम तत्त्व ज्यों का त्यों ही रहता है परन्तु विवेक से ही उसका यथार्थ अनुभव होता है। विवेक रहित मनुष्यों को विद्यमान भी विद्यमान नहीं दीखता और माया के सब चमत्कार दीखते रहते हैं।

जल अपने स्वरूप से जल ही जल रहता है चाहे किसी प्रकार के तरंग, बुदबुदे और झाग दीखने में आवें, रंग बेरंग निर्मल और मलिन दिखलाई दें सब ऊपर की विक्रिया है, जल के स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। ऐसे अविद्या से संसार दशा में अनेक विकार होने से-दीखने से भी परम तत्त्व ज्यों का त्यों ही रहता है, यह अखंड तत्त्व मेरा स्वरूप है ऐसे बोध का नाम ज्ञान है।

जितने पृथक् ज्ञान हैं उन सबकी पृथकता अविद्याकृत मिथ्या पदार्थ से दीखती है परन्तु मिथ्या पदार्थ का बाध करने से मिथ्या पदार्थ और उसके मिथ्या ज्ञान का बाध हो जाता है तब एक ज्ञान स्वरूप तत्त्व ही शेष रहता है। पदार्थ और उसके ज्ञान को हटा कर तत्त्व जाना जाता है इसी प्रकार जानने वाला जीव भी जो मन बुद्धि से युक्त होकर अविद्या के अधीन विकारी है उस विकारी भाव को हटा कर तत्त्व को ग्रहण करे तब तत्त्व का बोध होता है; अविद्या के जीव से जो बोध किया जायगा वह अविद्या का ही होगा। इससे वेद्य स्वरूप में टिककर

प्रत्यगात्मा को परब्रह्म से अभिन्न एक रस समझना ही स्वरूप ज्ञान है।

स्थूल वैराजयोरैक्यं,
सूक्ष्म हैरण्यगर्भयोः।
अज्ञान माययोरैक्यं,
प्रत्यग्विज्ञान पूर्णयोः॥२३॥

अर्थः—स्थूल शरीर और विराट की एकता है, सूक्ष्म शरीर और हिरण्यगर्भ की एकता है, अज्ञान और माया की एकता है ऐसे ही प्रत्यगात्मा और पूर्ण व्यापक परब्रह्म की एकता है।

विवेचन।

जीव ईश्वर के भेद को हटा कर एकता करके पूर्ण परब्रह्म के साथ जीव की एकता को दिखलाते हैं। जैसे जीव के अवस्था भेद से तीन स्वरूप है इसी प्रकार जीव के लिये ईश्वर के भी तीन शरीर और इनके अभिमानी अवस्था भेद से माने गये हैं। जीव के स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन शरीर हैं, ईश्वर के विराट, हिरण्य-गर्भ और अव्याकृत तीन शरीर हैं। जीव अवस्था के अभिमान से विश्व, तैजस और प्राज्ञ और ईश्वर शरीरों के अभिमान से वैश्वानर सूत्रात्मा और अन्तर्यामी होते हैं। जीव व्यष्टि है ईश्वर समष्टि है। जीव का स्थूल शरीर जीव के रहने का स्थान और पंचीकृत पंच महाभूतों से बना हुआ जाग्रत अवस्था के व्यवहार

का स्थान है और वह जड़ और समष्टि विराट का अंश है, उत्पत्ति नाश वाला और विकारी है; ऐसा ही ईश्वर का शरीर है। इसी से दोनों शरीर की एकता है जीव शरीर ईश्वर शरीर का अंश है अंश और अंशी में भेद नहीं होता जो अंशी में है वह अंश में होता है इसी से दोनों की एकता है। जैसे स्थूल शरीर का अभिमानी विश्व है ऐसे विराट का अभिमानी वैश्वानर है, जीव व्यष्टि है ईश्वर समष्टि है इनकी एकता है। जैसे एक ग्राम हो और ग्राम में अनेक घर हों अनेक घरों युक्त ही ग्राम है ऐसे एक घर भी ग्राम रूप है छोटे वड़े के अन्तर को छोड़कर दोनों एक ही हैं।

जीव का सूक्ष्म शरीर जो अपंचीकृत पंच महाभूतों से बना है, कर्ता करण के भाव से युक्त है, संस्कारमय जगत् में व्यवहार करने वाला है और चंचल है। इसी प्रकार ईश्वर का हिरण्यगर्भ शरीर भी अपंचीकृत का वना हुआ कर्ता करण युक्त सूक्ष्म चंचल व्यवहार वाला है इससे दोनों शरीरों की एकता है। दोनों शरीरों में सतरह तत्त्वों की भी समानता है। व्यष्टि समष्टि का जो भेद है वह तो अज्ञान कृत है।

जीव के कारण शरीर को यहां अज्ञान कहा है क्योंकि अज्ञान ही कारण है और ईश्वर का कारण शरीर जो अव्याकृत है उसे माया कहा है क्योंकि शुद्ध सतोगुण प्रधान माया से ही ईश्वर है और मलिन सतोगुण प्रधान अविद्या से जीव है। अज्ञान और माया की एकता है क्योंकि जीव का अज्ञान और

ईश्वर की माया दोनों का एक ही स्वरूप है। दोनों शरीरों में स्थूल सूक्ष्म शरीरों का कारणत्व होने से एकता है। ॐकार की तीसरी मकार मात्रा दोनों में समान होने से एकता है। सुषुप्ति जो जीव की है और प्रलय जो ईश्वर का है दोनों ही समान होने से भी दोनों अवस्था की एकता है। इसी प्रकार जीव का पिंड और ईश्वर के ब्रह्मांड की एकता है।

तीनों शरीरों का आधार और साक्षी जीव का शुद्ध स्वरूप प्रत्यगात्मा है विज्ञान इसी प्रकार ईश्वर के तीनों शरीरों का आधार जो शुद्ध अमात्र स्वरूप है पूर्ण रूप यानी सब स्थान में व्यापक परब्रह्म है इन दोनों की एकता है। जो ईश्वर का शुद्ध स्वरूप है वह ही जीव का शुद्ध स्वरूप है इस प्रकार जीव ईश्वर की एकता होते हुए भी अज्ञानियों को बोध नहीं होता एकता के ज्ञान के अभाव से अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं और संसार चक्र में भ्रमण किया करते हैं। ऐसे अज्ञानियों में भी जिसने अधिकारी के लक्षणों से युक्त होकर मुमुक्षुत्व को प्राप्त कर लिया है उसको समझाने की आवश्यकता है। विवेक द्वारा जब अज्ञान की निवृत्ति होती है तब अखंड एक रस स्वस्वरूप का अनुभव होता है। यह संपूर्ण संसार और संसारी जीव भ्रान्ति में पड़े हुए हैं भ्रान्ति के हटते ही वस्तु और अवस्तु का यथार्थ बोध हो जाता है। भ्रान्ति किस प्रकार की समझनी चाहिये उसे नीचे के श्लोक से स्पष्ट करके समझाते हैं।

चिन्मात्रैक रसे विष्णौ,
ब्रह्मात्मैक स्वरूपके।
भ्रम एव जगज्जातं,
रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥२४॥

अर्थः—जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है वैसे ही एक रस चिद्रूप व्यापक ब्रह्म स्वरूप जो एक है उसमें जगत् का भ्रम होता है।

विवेचन।

जो चैतन्य ही चैतन्य हो उसे चिन्मात्र कहते हैं। चैतन्य होकर जो न्यूनाधिकता को प्राप्त नहीं होता; देश, काल और वस्तु के भास से भी जिसके स्वरूप में किसी प्रकार की हानि नहीं होती इसीसे यह एक रस है यह ही परब्रह्म है। वह सब अवस्था में किसी की भी अपेक्षा न करते हुए व्यापक है इसीसे वह विष्णु भी कहलाता है। व्यापक ही उसका स्वरूप होने से जीव ईश्वर और जगत् में रह कर भी भिन्नता से रहित एक है ऐसा परब्रह्म स्वरूप ही वास्तविक तत्त्व है, उसके सिवाय सत् स्वरूप अन्य कोई पदार्थ ही नहीं है। जब उस तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं होता तब उसमें भ्रान्ति से जगत् की प्रतीति होती है। अधिष्ठान स्वरूप परब्रह्म में भ्रान्ति से जगत् अध्यस्त है, न होता हुआ भासता है और सब प्रकार की चेष्टा होती है। भ्रान्ति के पदार्थ में अस्तित्व नहीं होता जिसमें अध्यस्त होता है उसीके अस्ति भाति से प्रका-

शित होता है। जब परम तत्त्व का पूर्ण बोध नहीं होता तब ही उसमें जगत् का भान होता है। जैसे कुछ अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी का स्पष्ट भान नहीं होता तब रस्सी के बदले सर्प दीखता है और विष वाला सर्प समझकर भय मानता है, भागता है भागने में ठोकर लगती है, दुःख का अनुभव करना पड़ता है। इसी प्रकार जगत् और जगत् के कष्ट हैं।

रस्सी के स्थान में सर्प का भ्रम होता है तब वहां सर्प भ्रम-रूप होने से अस्तित्व एक रस्सी का ही है, जब रस्सी का पूर्ण बोध नहीं होता कुछ लम्बाकृति ही दिखाई देती है तब वहां रस्सी और सर्प दो वस्तु नहीं हैं, रस्सी के अभाव में भ्रान्ति का सर्प दीखता है; इसी प्रकार ऊपर दिखाया हुआ चिन्मात्र एक रस व्यापक ब्रह्मात्म जो एक ही स्वरूप है उसी का यथार्थ बोध होने में जगत् और जगत् के अनेक पदार्थ, जन्म, मरण, सुख, दुःख आदि का भान नहीं होता। भ्रान्ति का सर्प जिस प्रकार न होते हुए दिखाई देता है इसी प्रकार भ्रान्ति रूप जगत् दिखाई देता है। पदार्थ कुछ हो और कुछ दीखे उसे भ्रांति कहते हैं। भ्रान्ति को मिथ्या इस कारण कहते हैं कि जिसमें उसकी प्रतीति होती है उससे उसकी कोई भिन्न सत्ता नहीं होती; इसी प्रकार जगत् की भिन्न सत्ता नहीं है जगत् स्वरूप से परब्रह्म ही है।

शंकाः—रस्सी की भ्रान्ति में सर्प नहीं है परन्तु सर्प को प्रथम देखा है इसीसे उसकी स्मृति है और स्मृति ही प्रत्यक्ष रूप से

दीखती है, तब एक किस प्रकार कहा जाय? सच्चे देखे हुए पदार्थ के बिना भ्रान्ति नहीं होती। दीखता हुआ पदार्थ वहां नहीं है परन्तु दूसरे स्थान में होता ही है।

समाधानः—सर्प की स्मृति ही वहां होती हो ऐसा नहीं है, क्योंकि वहां तो प्रत्यक्ष है। सत्य पदार्थ ही भ्रान्ति रूप से दीखता है ऐसा नियम नहीं है। सत्य स्वरूप परब्रह्म में प्रथम सृष्टि के संस्कार की स्मृति होना भी संभव है। सीपी में रूपे का भ्रम, मरु भूमि में मरु जल, ठूंठ में पुरुष की भ्रान्ति होती है इसीके समान संसार को परब्रह्म में समझो।

स्वप्न भी रस्सी में सर्प के समान ही है, वहां एक ही पुरुष में अनेकता की प्रतीति होती है, इसी प्रकार एक परब्रह्म में अज्ञान से अनेक प्रकार से जगत् का भान और व्यवहार होता है, यह सब भ्रान्ति ही है और वास्तविक तत्त्व तो परब्रह्म ही है। एक अद्वैत तत्त्व का बोध होने से जगत् और जगत् के दुःखों की अत्यंत निवृत्ति होती है। जैसे रस्सी का यथार्थ बोध होने से सर्प और सर्प ज्ञान दोनों ही निवृत्त होकर सर्प ज्ञान से जो दुःख आदिक होता था उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। जब परब्रह्म का इसी प्रकार स्पष्ट अपरोक्ष बोध हो जाता है तब सब संसार तेरा रूप ही होता है। पंच महाभूत और उससे बना हुआ सब प्रपंच; मेरु, समुद्र, तृण, पाषाण, स्वर्ग, नरक, देव, गंधर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी, ऊंच, नीच, अँधेरा, प्रकाश आदि व्यवहार दशा में जितना कुछ जाना जाता है और प्रातिभासिक सत्ता में जितनी

प्रतीति होती है वे सब तेरा ही स्वरूप होता है, तेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है भेद भाव न रहने से आनन्द ही आनन्द होकर कृतार्थ होता है।

तार्किकाणां च जीवेशौ,
वाच्यावेतौ विदुर्बुधाः ।
लक्ष्यौ च सांख्य योगाभ्यां,
वेदान्ते रैक्यतानयोः ॥२५॥

अर्थः—तार्किकों के माने हुए जीव और ईश्वर इन शब्दों के वाच्यार्थ हैं, सांख्य और योग शास्त्र के माने हुए जीव ईश्वर लक्ष्यार्थ हैं और वेदान्त में इन दोनों की एकता है ऐसा बुद्धिमानों का मत है।

विवेचन।

जिसको न्याय कहते हैं उसको ही अधिकता से तर्क कहते हैं। वैशेषिक और न्याय दोनों ही न्याय कहे जाते हैं। वैशेषिक के आचार्य कणाद हैं और न्याय के आचार्य गौतम हैं। दोनों जगत् को दुःख रूप कथन करते हैं और अपनी प्रक्रिया के अनुसार कल्याण भी कथन करते हैं, उन दोनों ने जीव और ईश्वर के स्वरूप का जो कथन किया है वह वास्तविक नहीं है। "जीव को इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुण वाला माना है और ईश्वर को नित्य ज्ञान आदि और परमाणु रूप साहित्य से सत्य जगत का निमित्त कारण होकर के पैदा करने वाला मानते हैं,

जीव और ईश्वर का स्वरूप भ्रान्ति रूप नहीं है" सृष्टि की उत्पत्ति होती है इसीसे वे आरम्भवादी हैं। इन शास्त्रों का कथन जगत् की दृष्टि से है जो सामान्य मनुष्य जानते हैं इसी प्रकार जीव को कर्ता भोक्ता और ईश्वर को सृष्टि का रचने वाला कहते हैं। ईश्वर के साथ कल्याण में जीव का कोई सन्बन्ध नहीं है। इसीसे जीव और ईश्वर का वास्तविक कथन नहीं है, सामान्य लोग जानते हैं इस प्रकार का कथन होने से वाच्यार्थ का ही कथन किया है ।

तत्त्व मसिका रहस्य रहित उपाधि युक्त वाच्यार्थ होता है और रहस्य रूप लक्ष्यार्थ होता है कई वाक्य ऐसे होते हैं जिसका शब्दार्थ करने से यथार्थ बोध नहीं होता और बुद्धिपूर्वक यानी लक्ष से यथार्थ बोध होता है ऐसे वाक्यों में वाच्यार्थ अशुद्ध अपूर्ण होता है इतना ही जीव ईश्वर का अर्थ करने से तार्किकों का कथन वाच्यार्थ है, यानी जीव सुखी दुःखी और परमाणु के सहारे ईश्वर सृष्टि का कर्ता विरुद्ध है।

सांख्य और योग शास्त्र वाले अपनी प्रक्रिया में न्याय वालों से कुछ आगे बढ़े हैं सांख्य पुरुष यानी जीव को असंग चैतन्य विभु मानता है वह अविवेक से ही संसारी है ऐसा कहते हैं वास्तविक असंग ही है और ऐसे पुरुषों को अनेक मानता है। उसने जो जीव का स्वरूप कहा है वह पृथक्ता रखते हुए भी शुद्ध कहा है। न्याय ने उपाधि युक्त जीव माना है और सांख्य ने जीव के सच्चे स्वरूप को दिखलाया है इसीसे जीव का लक्ष्यार्थ वर्णन किया है। योग शास्त्र वाले ईश्वर को शुद्ध मानता है।

क्लेश कर्म विपाक और आशय से सम्बन्ध रहित पुरुष विशेष को ईश्वर माना है। न्याय वाले ने ईश्वर को नित्य ज्ञान इच्छादि गुणवान् सृष्टि का निमित्त कारण माना है योग वाले ने निर्गुण ईश्वर को माना है इसीसे ईश्वर का विवेचन लक्ष्यार्थ रूप है।

इसी प्रकार केवल वाच्यार्थ अथवा केवल लक्ष्यार्थ से तत्त्व का बोध नहीं होता, इसमें भी जीव और ईश्वर के भेद की निवृत्ति करने की आवश्यकता है। उपाधि युक्त जीव ईश्वर की तत्त्व से एकता नहीं होती और उपाधि रहित को भी भिन्न रखने से एकता नहीं होती। व्यवहार में दोनों वाच्यार्थ हैं और परमार्थ में लक्ष्यार्थ हैं। लक्ष्यार्थ में जब तक एकता नहीं की जाती तब तक अखंड अद्वैत तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती और उसके बिना कल्याण भी नहीं होता।

वेदान्त में जीव और ईश्वर के स्वरूप को वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से समझाया है। अविद्या की उपाधि युक्त चेतन कर्ता भोक्ता जीव है यह जीव का वाच्यार्थ है और माया की उपाधि सहित चेतन, अभिन्न निमित्तोपादान सृष्टि का कर्ता ईश्वर को कहा है यह ईश्वर का वाच्यार्थ है। जीव की उपाधि अविद्या का बाध करने से जो चेतन शेष रहता है वह साक्षी है उसे कूटस्थ भी कहते हैं यह शुद्ध स्वरूप होने से जीव का लक्ष्यार्थ है और ईश्वर में से माया की उपाधि का बाध करने से जो शुद्ध चेतन रहता है वह ईश्वर का लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार जीव का लक्ष्यार्थ

चेतन और ईश्वर का लक्ष्यार्थ चेतन एक ही है भिन्नता रहित है, यह चेतन ही परब्रह्म है, इस प्रकार वेदान्त में ही अद्वैत एकता होती है, ऐसी एकता के बोध का नाम ज्ञान है और उस ज्ञान से ही जीव का परम कल्याण होता है। जीव अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होकर कृतार्थ हो जाता है। अन्य सब शास्त्र कोई एक अवस्था में साधन रूप हैं अधिकारियों को कई कक्षा में उपयोगी होते हुए भी अद्वैत बोध कराने में असमर्थ हैं, परम कल्याण का हेतु वेदान्त शास्त्र ही है इस प्रकार बुद्धिमान तत्त्वदर्शी विद्वान् पुरुष जानते हैं। जीव ईश्वर की एकता भाग त्याग लक्षणा से किस प्रकार की जाती है उसका विवेचन आगे करते हैं।

कार्य कारण वाच्यांशौ,
जीवेशौ यौ जहत्ततौ ।
अजहच्च तयोर्लक्ष्यौ,
चिदंशावेक रूपिणौ ॥२६॥

अर्थः—कार्य कारण के वाच्यांश रूप जो जीव ईश्वर भाव उसका त्याग करने से और उनका लक्ष्य रूप चैतन्यांश का ग्रहण करने से उनकी एकता की सिद्धि होती है।

विवेचन।

माया और अविद्या कारण और कार्य हैं। माया कारण है और अविद्या कार्य है। माया की उपाधि से ईश्वर और अविद्या की उपाधि से जीव है। अविद्या काम कर्म के समुदाय से स्थूल

शरीर है, उसके अभिमान से जीव कर्ता भोक्ता होता है, वह त्वं पद जीव का वाच्यार्थ है और विराट आदि देह जो माया तत्त्व के समुदाय रूप हैं, जो सृष्टि कर्ता हैं वह तत् पद ईश्वर का वाच्यार्थ है। इस प्रकार जीव और ईश्वर की वाच्यार्थ से एकता हो नहीं सकती क्योंकि दोनों की उपाधि भिन्न भिन्न हैं। जीव अल्पज्ञ है ईश्वर सर्वज्ञ है। सामान्य अर्थ जो शब्दोच्चार से होता है इनसे दोनों की एकता हो नहीं सकती, इसीसे विचार युक्त अर्थ जो लक्ष्यार्थ है उसकी योजना करनी पड़ती है। जहां शब्दार्थ से ठीक मतलब न निकलता हो वहां लक्ष्यार्थ की आवश्यकता होती है, जहां शब्दार्थ से अर्थ में विरोध आता है वहां लक्ष्यार्थ किया जाता है। तत्त्वमसि महावाक्य जीव ईश्वर की एकता को करता है और शब्दार्थ से एकता होती नहीं तब लक्ष्यार्थ किया जाता है।

त्वं पद जीव में दो अंश हैं, एक चेतन अंश और दूसरा उपाधि अंश अविद्या। अविद्या सहित चेतन जीव का वाच्यार्थ है और अविद्या के उपाधि अंश का बाध करने से रहा हुआ चेतन जीव का लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार तत् पद ईश्वर के भी दो अंश है, एक चेतन अंश और दूसरा उपाधि अंश माया। माया सहित चेतन ईश्वर का वाच्यार्थ है और माया की उपाधि अंश का बाध करने से रहा हुआ चेतन ईश्वर का लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार दोनों के लक्ष्यार्थ चेतन एक है इसीसे एकता है।

लक्ष्यार्थ से एकता करने पर जो चेतन तत्त्व रहता है वह सृष्टि स्थिति प्रलय रहित सत् चित् आनन्द स्वरूप अखंड अद्वैत

अनन्त ही रहता है ऐसे एक तत्त्व का निश्चय होना ही तत्त्व ज्ञान है।

लक्षणावृत्ति तीन प्रकार की होती है, जहद, अजहद और जहदाजहद। जहद में त्याग होता है, अजहद में ग्रहण होता है और जहदाजहद में कुछ त्याग और कुछ ग्रहण होता है, इसीसे उसको भाग त्याग लक्षणा भी कहते हैं। शब्दार्थ का छूट जाना और उसके सम्बन्धी का परम्परा से ग्रहण जहद लक्षणा है। अजहद लक्षणा में वाच्यार्थ छूटता नहीं और अधिक का ग्रहण होता है। यह दोनों प्रकार की लक्षणाओं का उपयोग तत्त्वमसि महावाक्य में नहीं होता क्योंकि उसमें संपूर्ण वाच्यार्थ छूटता नहीं है इससे जहद का उपयोग नहीं है और संपूर्ण लक्ष्यार्थ के साथ अधिक का ग्रहण भी नहीं होता इससे अजहद का उपयोग भी नहीं है इससे तीसरी भाग त्याग लक्षणा का ही उपयोग होता है जिसके द्वारा जीव चेतन और ईश्वर चेतन की एकता की गई है।

जैसे एक राजा और उसका एक नौकर है। राजा में दो अंश हैं:-मनुष्यत्व और राज्य की उपाधि। नौकर में दो अंश हैं:-मनुष्यत्व और नौकरी की उपाधि। दोनों के उपाधि अंश के त्याग करने से दोनों में मनुष्यत्व एक ही रहता है। इस प्रकार जीव और ईश्वर की उपाधि का त्याग करने से चेतन एक ही रहता है।

शंका:—मनुष्यत्व दोनों में है परन्तु दोनों की उपाधि का त्याग करने से मनुष्यत्व दोनों में भिन्न रहता है. यह एक नहीं हो

सकता। इसी प्रकार जीव और ईश्वर की उपाधि का त्याग करने से भी जीव चेतन और ईश्वर चेतन भिन्न ही रहता है दोनों एक नहीं है, दोनों एक हो नहीं सकते।

समाधानः—तुझे राजा का दृष्टान्त लक्ष्य पहुँचाने के लिये दिया था सम्पूर्ण अंश का मिलान करने के लिये नहीं था। मनुष्यत्व में तो भिन्न भिन्न कर्मों के भोग से भिन्नता भले हो, चेतन में तो भिन्नता का हेतु ही कोई नहीं रहता इससे चेतन भिन्न नहीं रहता। इसके लिये और दृष्टान्त देता हूं श्रवण कर:—जैसे घटाकाश और मठाकाश है, आकाश घट की उपाधि सहित घटाकाश है और वही आकाश मठ की उपाधि सहित मठाकाश है, जब घट और मठ की उपाधि का त्याग किया जाता है तब एक ही आकाश रहता है, आकाश में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती। इसी प्रकार माया और अविद्या की उपाधि के त्याग से चेतन ही रहता है और दोनों चेतन की भी भिन्नता नहीं रहती। चेतन की भिन्नता उपाधि से दीखती थी वह उपाधि न रहने से अखंड चेतन रहता है, वही परब्रह्म है।

अथवा जैसे कोई राजा राज्य करता है तब भी राजा है और कोई घर का काम करता है तब भी राजा ही है; इसी प्रकार ईश्वर होकर सृष्टि की रचना करता है तब भी परब्रह्म है और जब जीव रूप से भोग करता है तब भी परब्रह्म ही है। इसी प्रकार उपाधि अंश के भाग का जिसमें त्याग होता है ऐसी भाग त्याग लक्षणा से तत्त्वमसि महावाक्य की एकता होती है उसी का नाम ज्ञान है। पारमार्थिक सत्ता में तो अद्वैत चेतन ही है वहां भेद की गंध भी

नहीं है, माया और अविद्या व्यवहारिक सत्ता के हैं, अज्ञान की व्यवहारिक सत्ता पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा से तुच्छ होने से अज्ञानियों को भेद प्रतीत होता है।

कर्मशास्त्रे कुतो ज्ञानं,
तर्के नैवास्ति निश्चयः।
सांख्ययोगौ द्विधापन्नौ,
शाब्दिकाः शब्दतत्पराः ॥२७॥

अर्थः—कर्म शास्त्र में ज्ञान कहां? और तर्क से तो निश्चय ही नहीं हो सकता; सांख्य और योग दोनों भेद वादी हैं और शाब्दिक (वैयाकरणी) शब्द के बाहर नहीं निकलते।

विवेचन।

कर्मशास्त्र कर्म करने का विधान दिखलाता है और फल को समझाता है। ऐश्वर्य की तरफ ही जिसका लक्ष्य है ऐसे शास्त्र से ज्ञान नहीं होता। जो जिसका उपाय होता है उससे उसकी सिद्धि होती है, कर्म से कर्म का फल होता है, कर्मशास्त्र की रीति से किया हुआ कर्म ज्ञान का साधन नहीं होता इससे कर्म करके ज्ञान नहीं होता। कर्म व्यक्ति के अभिमान सहित होता है और ज्ञान अभिमान के क्षीण होने से होता है, दोनों में उत्तर और दक्षिण दिशा के समान विरोध है इसीसे केवल कर्म से ज्ञान नहीं होता। श्रुतियां भी कर्म से ज्ञान नहीं होने का कथन करती हैं। 'जगत् सत्य है' ऐसे भाव से राग सहित कर्म होता है और जगत् के

अभाव-वैराग्य से ज्ञान होता है, इसी से दोनों में महान् अन्तर है।

कर्म रूप यज्ञ अनेक प्रकार के हैं उनमें अनेक प्रकार की सामग्री की आवश्यकता होती है। यज्ञ कर्ता यज्ञ कराने वाले आचार्यादि होते हैं; देश, काल, वस्तु, अधिकार सबकी आवश्यकता होती है, किसी बात की भूल हुई तो न्यूनता रह जाती है अथवा यज्ञ निष्फल जाता है अथवा प्रायश्चित लगता है। इतना परिश्रम उठाते हुए भी फल बहुत तुच्छ और नाशवान् होता है। देह बुद्धि-देहासक्ति को दृढ़ करनी पड़ती है, निज सुख आत्मानन्द को छोड़कर स्वर्ग सुखकी इच्छा करनी पड़ती है यह सब चेष्टा एक प्रकार से देवताओं के पास दीन होकर भीख मांगने के समान ही है। ऐसे माया के प्रवाह में पड़े रहने से कभी भी शान्ति नहीं होती और अखंड आनन्द स्वरूप के बोध होने का संभव भी नहीं है।

तर्क से जो बुद्धि को दौड़ाया करते हैं उनको तत्त्व का निश्चय कभी भी नहीं होता, तर्क, दूसरों में तो थोड़ा काम देते हैं परन्तु अपने स्वस्वरूप-तत्त्व में बुद्धि असमर्थ है। प्रमाण के विषय में बुद्धि के तर्क की प्रवृत्ति है, जो अन्य प्रमाण की अपेक्षा रहित स्वतः प्रमाण है उसमें बुद्धि की चंचूका प्रवेश नहीं है। बुद्धि स्वयम् पर प्रकाश्य और विकारी है, उसकी गम विकारी व्यवहारिक पदार्थों में ही हो सकती है, अविकारी की तरफ़ वह जा नहीं सकती तब परम तत्त्व की सिद्धि कैसे हो? आत्म

तत्त्व निश्चय रूप है और तर्क शंका स्वरूप है, तर्क रहता है तव तक निश्चय नहीं होता इससे तर्क से ज्ञान नहीं होता।

अनेक प्रकार के तर्क और युक्तियां हैं। जैसे कि देहादिक जगत् सत्य है क्योंकि दीखता है, ब्रह्म दीखता नहीं है इससे सत्य नहीं है। जीव ईश्वर का भेद सत्य है क्योंकि एक अल्पज्ञ और दूसरा सर्वज्ञ है; माया सत्य है उससे जगत् की रचना होती है पुनर्जन्म का कोई प्रमाण नहीं है, ईश्वर कोई है इसका भी क्या सबूत, आत्मा जड़ है क्योंकि सुषुप्ति में वह रहता है तो भी ज्ञान नहीं रहता। ऐसे अनेक तर्क का निर्णय बुद्धि द्वारा नहीं होता तब ब्रह्म तत्त्व का निश्चय रूप ज्ञान कहां से हो? स्वानुभव तत्त्व का स्वानुभव से ही निश्चय होता है। अपने अस्तित्व निश्चय में तर्क की आवश्यकता नहीं होती और तर्क से अपना निश्चय कभी हो भी नहीं सकता।

सांख्य और योगशास्त्र वाले दोनों ही द्वैत का कथन करते हैं। द्वैत में स्वस्वरूप की प्राप्ति कहां? अद्वैत तत्त्व के अपरोक्ष बोध के विना प्रकृति पुरुष के विवेक से मोक्ष नहीं होता। अनेक पुरुषवाद में मोक्ष कहां? योगशास्त्र वाले को समाधि में अद्वैत होते हुए भी अद्वैत का ज्ञान नहीं है, वे जीव ईश्वर और माया को अन्तिम रखते हैं इससे द्वैतवादी हैं। योगाभ्यास से वृत्ति की शून्यता को अथवा एकाग्रता को समाधि मानकर समाधि से मोक्ष मानते हैं। समाधि हमेशा रहती नहीं समाधि से उत्थान होता है और चित्त ज्यों का त्यों चंचल बना रहता है। मुद्रादिक साधन से

ईश्वर दर्शन नहीं होता, ईश्वर को अलग रख कर जीव को असंग करने से भेद की निवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार कठिन क्रियाएं करते हुए भी स्वरूप के अद्वैत अपरोक्ष ज्ञान बिना मोक्ष का होना असंभवित है। श्रुतियां भी ज्ञान से मोक्ष होने को कथन करती हैं शरीर की क्रिया से और वृत्ति शून्य होने से मोक्ष नहीं होता।

व्याकरणी शब्द के अर्थ और प्रयोग में ही आयु को व्यतीत करते हैं। शब्द के अर्थ में अन्वय पदच्छेद आदि झगड़े में ही अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। हम इतना जानते हैं इस प्रकार के अभिमान से भरे हुए, काम क्रोध से शब्द में भ्रमण करने वालों को ब्रह्म का निश्चय किस प्रकार हो ? शब्दातीत को शब्द से पकड़ना चाहे और शब्द को छोड़ना न चाहे उसे परम तत्त्व का बोध कभी भी नहीं हो सकता। शब्द साधन रूप है साधन को सिद्ध रूप मानने से कोई भी कृतकार्य नहीं होता। इस प्रकार शब्दोच्चारण रूप कर्म से ज्ञान वार्ता करने में कुशल हो तो भी तत्त्व का स्पर्श नहीं होता। शब्द भिन्न है और अनुभव भिन्न है जब तक स्वानुभवामृत से तृप्त नहीं होता तब तक ढोल में से पोल के बजने के समान ही शब्दोच्चार को समझना चाहिये। शब्दोच्चार से परमपद नहीं होता शब्द का लक्ष करते हुए शब्द को छोड़ वाचक वाच्य के सम्बन्ध रहित तत्त्व में स्थिति से ही परमपद होता है।

अन्ये पाखंडिनः सर्वे,
ज्ञान वार्ता दुसुर्बलाः।
एक वेदान्त विज्ञानं,
स्वानुभूत्या विराजते ॥२८॥

अर्थः—अन्य सब पाखंडी लोग ज्ञान की चर्चा करने में दुर्बल हैं एक वेदान्त विज्ञान ही अपने अनुभव के बल बिराजता है।

विवेचन।

अनेक प्रकार क्रिया करने वाले कर्मनिष्ठ, अनेक विधि भाषा को जानने वाले शास्त्रादिकों को मुख में रखते हुए शास्त्र के कीट बने हुए पंडितादि ज्ञान में शून्य होते हैं। 'अमुक शास्त्र में अमुक स्थान में अमुक लिखा है' ऐसी वार्ता करने में कुशल हैं परन्तु ज्ञान तत्त्व का उनमें दुष्काल है। कभी किसी वाचक को वाचा में ज्ञान के शब्द होते हुए ज्ञान संस्कार से हृदय शून्य होता है। आशा तृष्णा से भरे हुए वे सब एक प्रकार से पाखंडी हैं। ज्ञान रहित जितने आचार विचार और शास्त्र पठन आदिक हैं सब बोझा रूप ही हैं; यदि यह आचार, क्रियादिक ज्ञान के अधिकारी बनने में मदद रूप न हों तो व्यर्थ का ही परिश्रम है। स्वस्वरूप की अपेक्षा से सब तुच्छ होने से पाखंड रूप ही है। अन्य दर्शन के अभिमान को धारण करने वाले ज्ञान शून्य होते हैं। लौकिक व्यवहार की कुशलता तत्त्व स्वरूप में काम नहीं आती। देहात्मवादी, प्राण-

वादी, विज्ञानवादी और धर्माधर्म के निर्णय करने वाले तत्त्व बोध से रहित होते हैं। साहित्य, काव्य आदिक सब लौकिक हैं, यज्ञादि शुभ कर्म स्वर्ग के हेतु हैं परन्तु ज्ञान तत्त्व तो इस लोक और परलोक में अपने अखंड प्रकाश से प्रकाशित होता है। तत्त्व ज्ञान के सिवाय पवित्र करने वाला, संसार के कष्टों से छुड़ाने वाला, अपने आद्य स्वरूप को प्राप्त करा कर अखंडानन्द में मग्न करने वाला, महान् चक्रवर्ती बनाने वाला वेदान्त शास्त्र को छोड़ करके और कोई शास्त्र नहीं है; और शास्त्र इन्द्रियगम्य हैं एक वेदान्त शास्त्र ही ऐसा है जो अपने अनुभव से प्रकाशता है और संपूर्ण अज्ञान और उसके फैलावे को क्षण भर में नाश कर देता है। जैसे सूर्य प्रकाशते ही सब अन्धेरे का नाश कर देता है इसी प्रकार वेदान्त शास्त्र से उत्पन्न हुआ स्वस्वरूप के बोध से आन्तर बाहर सब अन्धेरे का नाश करके स्वयम् प्रकाश में विराजता है।

अहं ममेत्ययं बंधो,
नाहं ममेति मुक्तता।
बंधो मोक्षो गुणैर्भाति,
गुणाः प्रकृति संभवा ॥२६॥

अर्थः—मैं और मेरा यह भाव बन्धन है और मैं और मेरा भाव नहीं है, यह मोक्ष है; बन्धन और मोक्ष गुणों करके होते हैं और गुण प्रकृति से होते हैं।

विवेचन ।

इस श्लोक से अज्ञानी और ज्ञानी के निश्चय को दिखलाते हैं, ज्ञानी और अज्ञानी के वाहर के चिह्न भिन्न नहीं होते व्यवहार में दोनों की समानता है जो कुछ अन्तर है वह दोनों के भाव में है। जो शरीर और शरीर के सब अंग को 'मैं हूं' इस प्रकार जानता है और उसके सम्बन्धियों में 'मेरे हैं' ऐसे ममत्व को धारण करता है ऐसे अभिमान वाला वन्धन में पड़ा है; और जो शरीर अथवा उसके कुछ अंश में व्यक्ति भाव से 'मैं हूं' इस प्रकार अभिमान को धारण नहीं करता और शरीर से भिन्न शुद्ध चैतन्य अखंड स्वरूप को अपना स्वरूप मानता है और शरीरादिक के सम्बन्ध वाले में 'मेरा है' इस प्रकार के अभिमान को धारण नहीं करता वह मुक्त है। मैं और मेरे के अभिमान का धारण करने वाला वन्धन में है और मैं और मेरे का अभिमान नहीं धारण करने वाला मुक्त है।

जीव स्वभाव से ही मुक्त है, उस तत्त्व को अशुद्ध करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है, वही एक तत्त्व है अन्य सब अतत्त्व है। अतत्त्व तत्त्व को दूपित कर देता है ऐसा कहना मूर्खता है। जीव स्वरूप से दूपित न होते हुए अज्ञान से अपने को दूषित मानता है यह उसका मानना ही उसे दूपित होने का हेतु है। सामान्यता से सब कोई जानते हैं कि जड़ ऐसा शरीर मैं नहीं हूं शरीर में रहा हुआ चेतन मैं हूं। शरीर का सम्बन्ध मान कर शुद्ध चेतन जो अपना स्वरूप है उसे नहीं समझने से शरीर को अथवा शरीर के किसी हिस्से को 'मैं हूं' ऐसा स्वीकार करता है

यह शरीराभिमान ही वन्धन है। चाहे स्थूल शरीर के अभिमान वाला विश्वाभिमानी हो अथवा सूक्ष्म शरीर का तैजस अभिमान वाला हो अथवा कारण शरीर का प्राज्ञ अभिमानी हो अथवा इन्द्रिय, प्राण, मन, वुद्धि में से एक को 'मैं हूं' ऐसा समझता हो, यह ही वन्धन है उसके सिवाय और कोई वन्धन नहीं है। यदि शरीरादि के अभिमान से मैं हूं ऐसा भाव न हो तो कहीं भी दुःख नहीं है। जब शरीरादि में 'मैं' दृढ़ हो जाता है उसके पश्चात् शरीर से अथवा मन वुद्धि से जिस जिसका सम्वन्ध होता है अथवा जो उसके अधिकार में आता है उसमें मेरा मानता है, इसी प्रकार मेरे का विस्तार बढ़ जाता है, मैं और मेरे में उसकी सव दुनिया भरी हुई है ऐसे मनुष्यों को वन्धन है।

ज्ञानी पुरुष शरीर को अथवा शरीर के कोई अंश अथवा समुदाय को तत्त्व वोध होने के कारण अज्ञानी के समान 'मैं हूं' इस प्रकार का निश्चय वाला नहीं होता। मैं व्यक्ति रूप हूं ऐसा भी नहीं मानता इससे अज्ञानी के समान अनात्म में आत्म भाव नहीं होता तब शरीर के सम्वन्ध वाले में मेरा है ऐसा ममत्व भी नहीं होता। इस प्रकार जिसका जगत् में 'मैं और मेरा' छूट गया है वह पुरुष मुक्त है।

'मैं देह नहीं हूँ' ऐसा कहने मात्र से वन्धन दूर नहीं होता। जैसे जैसे चेतन की तरफ अभ्यास दृढ़ होता जाता है वैसे वैसे अहंता क्षीण होती जाती है। जव तक अहंता का भाव दीखता है तब तक अज्ञान की जाग्रत अवस्था है, अहंता जाने का भान मन

से होता है ऊपर ऊपर से गया हुआ अहंकार का भाव जब तक मूल सहित निवृत्त नहीं होता तब तक अहंकार का त्याग हुआ नहीं है। अभ्यास के बल से आत्मानुभव के सत्यता की प्रतीति हो और देहादिक प्रपंच का मिथ्यात्व दृढ़ हो तब साक्षी में स्थिति हुई समझना चाहिये। साक्षी पर लक्ष रखते रहने से द्वैत से उत्पन्न होने वाले विशेष अहंकार का लय होता है। सामान्यता से आसक्ति रहित मन इन्द्रियों का स्फुरण होता है तब भी उनमें मिथ्यात्व का भान होता है इस प्रकार अहंकार की ग्रन्थि टूटने से, सुख, दुःख, पाप, पुण्यादि अज्ञान की अवस्था के समान आंतर में क्षोभ को पैदा नहीं करते। अन्तःकरण असंग भाव से समता में ही रहता है, जगत् के संस्कारों को पकड़ता नहीं और दुःखादि अवस्था में भी आत्मा का अनुसंधान टूटता नहीं। जब अन्तःकरण आंतर और बाहर के विकारों को पकड़ता नहीं है तब वह मुक्त है और अन्तःकरण विकारों को पकड़ ले तो समझना चाहिये कि बन्धन है। अन्तःकरण और शरीरादिक की सब चेष्टा का साक्षी बना रहता है, उनके विकारों में संमिलित होकर कर्ता भोक्ता नहीं बनता तब उसका टिकाव साक्षी में समझना और इनसे विरुद्ध अनात्म में आत्म भाव बन्धन है।

प्रकृति अज्ञान स्वरूप है। प्रकृति तीनों गुणों मय है। जब प्रकृति में से गुणों की भिन्न प्रतीति होती है तब सतो रजो और तमोगुण दीखते हैं यह गुण ही प्रकृति का स्वरूप है। बन्ध और मोक्ष इन प्रकृति के गुणों में है। रजोगुण और तमोगुण की विशे-

पता चंचलता और अन्धेरे को पैदा करने वाली है। तमोगुण आत्मा को ढांपता है और रजोगुण भ्रान्ति से अनात्मा में आत्म भान कराता है। इससे अनात्मा को 'मैं हूँ' स्वीकार करके अनेक प्रकार की ममता को करता है। जब सतोगुण की किसी प्रकार से वृद्धि होती है तब रजो तमोगुण का किया हुआ विपरीत भाव मनुष्य के समझ में आजाता है और मैं शरीर आदिक नहीं हूँ ऐसा ज्ञान होता है इससे मैं और मेरे भाव के त्याग करने को समर्थ होता है जिसने इस प्रकार त्याग किया है वह मुक्त है। इसी प्रकार बन्ध और मोक्ष दोनों ही प्रकृति-अज्ञान में हैं। मोक्ष अज्ञान में से होता है इसीसे अज्ञान में कहा है, मोक्ष अज्ञान में से हटाकर स्वस्वरूप में स्थापित करता है और अज्ञान का बन्धन तो एक बन्धन से अनेक बन्धनों को प्राप्ति ही कराता रहता है।

ज्ञानमेकं सदा भाति,
सर्वावस्थासु निर्मलम् ।
मंद भाग्या न जानंति,
स्वरूपं केवलं बृहत् ॥३०॥

अर्थः—एक ज्ञान स्वरूप ही ऐसा है कि जो सब अवस्थाओं में शुद्ध रूप से प्रकाशता है; ऐसे महान् ज्ञान स्वरूप को 'अपना स्वरूप है' ऐसा नहीं जानने वाला मन्द भागी है यानी अज्ञानी है।

विवेचन ।

जब अहंकार निवृत्त होकर स्वस्वरूप का बोध होता है तब ज्ञान स्वरूप का ज्ञानी को अखंड बोध होता है उसको अब दिखलाते हैं। ज्ञान स्वरूप प्रत्येक का आत्मा है सब का अधिष्ठान और आधार है ऐसा होते हुए भी मंद भागी अज्ञान से दबे हुए बन्धन में ही पड़े रहते हैं। शरीरादिक में 'मैं' और सम्बन्धी में 'ममत्व' धारण करने से स्वस्वरूप का बोध नहीं होता। जैसे सूर्य का प्रकाश सब स्थान, काल और लोकों को प्रकाशित करता है परन्तु जिसकी आंखें फूटी हुई होती हैं उसको सूर्य का प्रकाश नहीं दीखता। इसी प्रकार अज्ञान करके स्वस्वरूप की दृष्टि जिसकी नष्ट हो गई है उसे सब का सत्ता स्फूर्ति देने वाले प्रकाश-दाता तत्त्व का दर्शन नहीं होता।

आत्मा जो ज्ञान स्वरूप है वह लौकिक ज्ञान से विलक्षण है। जिस प्रकार लौकिक पदार्थ का ज्ञान होता है उस प्रकार उसका ज्ञान नहीं होता क्योंकि अन्य पदार्थ का ज्ञान ज्ञाता से भिन्न है और यह ज्ञाता से अभिन्न है। उसके ज्ञान में संस्कारित निर्मल बुद्धि और मुमुक्षुत्व की आवश्यकता है। यह ज्ञान तत्त्व अखंड है इससे खंड बुद्धि का विषय नहीं हो सकता तो भी मुमुक्षुओं को उपयोगी होने से समझाते हैं। ज्ञान का अर्थ केवल प्रकाश है, यह एक समान प्रकाश है न्यूनाधिक प्रकाश अथवा व्यक्ति का भेद उसमें नहीं है उसकी देश काल वस्तु से रुकावट नहीं होती। इन सब पदार्थ और इनके सम्बन्धादि को छोड़कर केवल प्रकाश

ज्ञान स्वरूप है। उस प्रकाश के विना कोई भी जड़ चेतन स्थावर जंगम नहीं है। ज्ञान के प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं पदार्थादिक की अस्ति और नास्ति का प्रकाश उसीसे है, यह प्रकाश ही सब का आधार है। यहां तक कि जिसको अन्धेरा कहते हैं, अदृश्य कहते हैं सब का प्रकाश और आधार वह ही है। जितने लौकिक और काल्पनिक ज्ञान हैं अथवा घनता में जो ज्ञान हैं वे सब उस ज्ञान के खजाने से ही हैं, उपाधि की एकता से अंश रूप ज्ञान प्रतीत होता है। ज्ञान किसी प्रकार का भी हो सब का आद्य स्वरूप यह ज्ञान स्वरूप ही है। जैसे संपूर्ण जल का स्थान समुद्र है, समुद्र का जल ही वर्षा, भूमि, नदी, कूप आदि में भिन्नता से प्रतीत होता है तो भी जल समुद्र का ही है, इसी प्रकार ज्ञानतत्त्व—ज्ञान समुद्र का कणरूप ज्ञान अविद्या और अविद्या कृत पदार्थों में भिन्नता से प्रतीत होता है। एक ही काल जिस प्रकार कल्पना भेद से घड़ी, घन्टा, दिन आदिक हैं इसी प्रकार एक ही ज्ञान स्वरूप अज्ञान कल्पित पदार्थों में अनेकता में भासता है।

व्यवहार की जाग्रत अवस्था में पदार्थ भिन्न भिन्न हैं उन पदार्थों का विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध है उनको श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका इंद्रियां भिन्न २ प्रकार से ग्रहण करती हैं, इसीसे उनका ज्ञान भी भिन्न २ प्रकार का होता है। इसी प्रकार गाय, बैल, घोड़ा, जीव जन्तु आदिका ज्ञान एक दूसरे से भिन्न होता है; पदार्थ, इन्द्रियों के सम्बन्ध और अवस्था की भिन्नता है परन्तु बुद्धि से ग्रहण किया हुआ उनका

ज्ञान-जानना सब एक ही प्रकार का होता है। जैसे एक ही आकाश उपाधि के भेद से भेद वाला मालूम होता है इसी प्रकार उपाधि युक्त में भिन्नता है और वस्तुतः ज्ञान तो एक ही है। जगत् की सब अनेकताओं में ज्ञान की एकता है।

इसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी जाग्रत अवस्था के संस्कारों से जिसमें अनेक पदार्थ का ज्ञान होता है यह भी सब भिन्न भिन्न है और जाग्रत अवस्था से स्वप्न की अवस्था का भेद है, परन्तु यहां भी जो ज्ञान है वह एक ही है और जाग्रत ज्ञान से भी स्वप्न ज्ञान का भेद नहीं है। ऐसे ही सुषुप्ति अवस्था से उठा हुआ मनुष्य सुषुप्ति के अनुभव को कहता है कि मैं सुख से सोया था, कुछ भी ज्ञान न रहा यह ज्ञान भी अभाव का ज्ञान होने से जाग्रत स्वप्न के पदार्थों के ज्ञान के समान ही है। इसीसे तीनों अवस्थाएं, उनके पदार्थ, विषय और इन्द्रियों की भिन्नता से प्रतीत होते हुए भी विचार ज्ञान-जानने को देखा जाय तो ज्ञान एक ही है। जैसे यह एक दिन की तीनों अवस्था में रहा हुआ ज्ञान एक है इसी प्रकार प्रत्येक प्राणियों में रहा हुआ ज्ञान एक ही है और ऐसे ही दिन, मास, वर्ष और कल्पादिक में रहा हुआ विषय आदि की भिन्नता होने पर भी ज्ञान स्वरूप से एक ही है।

यह ज्ञान स्वरूप अत्यन्त निर्मल है। किसी के साथ मिल कर भी विकार को प्राप्त नहीं होता और सब में एकसा ही रहता है, अखंड है, सब से महान् है, वह ज्ञान ही ब्रह्म स्वरूप है ऐसा होते हुए भी जो मंदभागी हैं, अज्ञान

में अत्यन्त दबे हुए हैं, स्पष्ट दीखता हुआ भी ज्ञान उन लोगों के जानने में नहीं आता। वह ज्ञान सबका अधिष्ठान है परन्तु जिसकी दृष्टि अध्यस्त नाम रूप के ऊपर है वे नाम रूप का भी ज्ञान से उपयोग करते हुए वस्तुतः ज्ञान को जानने में असमर्थ होते हैं, जान नहीं सकते। इसीसे उनको मंदभागी कहना चाहिये। प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष नहीं जानते इसीसे अज्ञानी हैं। अज्ञान की सिद्धि ज्ञान से ही होती है, ज्ञान का न होना अज्ञान नहीं है, विपरीत ज्ञान ही अज्ञान है। नाम रूप के ज्ञान में भी वही ज्ञान प्रकाशता है। उस ज्ञान से प्रकाशित हुई बुद्धि में पड़ा हुआ परिच्छिन्न चिदाभास प्रकाशित होकर नाम रूप की परिच्छिन्नता का बोध कराता है; परन्तु सब किसी को एक साथ प्रकाशने वाला यानी ज्ञाता बुद्धि पदार्थ का ज्ञान और पदार्थ सबको प्रकाशित करता है इससे वह बृहत् ज्ञान है उसे न जानकर चिदाभास कृत टुकड़े के रूप से ज्ञान को समझना अज्ञान है।

अज्ञानियों को इसी कारण मंदभागी कहा है कि वास्तविक तत्त्व को ग्रहण न करने से भिन्नता के ज्ञान से ही अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं और जीवात्मा को संसार भ्रमण का हेतु यह विपरीत ज्ञान है। ज्ञान स्वरूप जिसे शास्त्र और संत परब्रह्म कहते हैं जो उसीके अपरोक्ष बोध वाले हैं। वे भाग्यशाली हैं, वे ही अपने स्वरूप की महिमा में टिकते हैं।

संकल्प साक्षिणं ज्ञानं,
सर्व लोकैक जीवनम्।
तदस्मीति च यो वेद,
स मुक्तो नात्र संशयः ॥३१॥

अर्थः—सब लोकों का एक मात्र जीवन और संकल्प का साक्षी जो ज्ञान है वही अपना स्वरूप है ऐसा जो जानता है वह मुक्त है इसमें कुछ संदेह नहीं है।

विवेचन।

प्रत्येक प्राणी का जीवन प्राण से है, प्राणापान की गति में मनुष्य जीता रहता है उस चाल में विकार होते ही गति रुक जाती है तब मृत्यु होती है। प्राण के आधार पर मन है, प्राण वाहन है और मन सवार है जहां प्राण रहता है वहां मन भी रहता है। प्राण की गति में मन अपना संकल्प विकल्प रूप कार्य करने में समर्थ होता है और प्रत्येक इन्द्रियों के साथ मिल कर विषयों का ग्रहण करता है। सब प्रकार के विषय का ग्रहण और क्रियायें मन से ही होती हैं, इसीसे शरीर इन्द्रियों की अपेक्षा मन में चेतन की अधिक प्रतीति होती है। मन में जो चेतन रहा है वह वास्तविक चेतन नहीं है, शुद्ध चेतन का आभास रूप है; यह आभास, मन जो माया का कार्य है उसमें पड़ा हुआ होने से वह भी मायिक है उस चेतन के सहारे उसके साक्षी का

ग्रहण करना। वह साक्षी ज्ञान स्वरूप है, संपूर्ण लोकों का अधिष्ठान-आधार सत्ता स्फूर्ति देने वाला होने से सब लोकों का जीवन भी उसीसे है। उस साक्षी को ही परब्रह्म से अभिन्न अपना आत्म रूप से ग्रहण करना चाहिये—निश्चय करना चाहिये।

माया और माया के प्रत्येक पदार्थ का यह ज्ञान स्वरूप ही साक्षी है परन्तु जड़ पदार्थों में उसका साक्षीत्व जल्दी से ग्रहण नहीं हो सकता इसीसे जिसमें चेतन की प्रतीति होती है ऐसे संकल्प विकल्पात्मक मन के साक्षी को समझाया है। मन में रहा हुआ विशेष चेतन सामान्य साक्षी चेतन को समझने में बाधा पहुंचाने वाला है इससे उसके साक्षी का कथन किया है। साक्षी के ग्रहण से जिसका साक्षी है ऐसा साक्ष्य मन के चेतन का भाव दूर होता है और ठीक रीति से साक्षी समझ में आजाता है। यह ज्ञान स्वरूप मन का ही साक्षी है ऐसा न सनमझना चाहिये, वह जड़ और चेतन सब किसी का साक्षी है, मनका साक्षी तो केवल सुगमता से समझने के लिये कहा है।

इस प्रकार साक्षी जो प्रत्येक का साक्षी है, प्रत्येक का अपना आत्मस्वरूप है उसे जो आत्मरूप से जानता है वह संदेह रहित मुक्त ही है क्योंकि सबके साक्षी को आत्म रूप से न जानने से बन्धन है इसीसे उसको जानना मोक्ष है। जब तक मनुष्य अज्ञान के भाव में दबा हुआ होता है, निर्मल बुद्धि नहीं होती, मल दोष और विक्षेप दोष की अधिकता होती है और आवरण दोष सहित अज्ञान होता है तब तक स्वस्वरूप का बोध नहीं होता, समझाते

हुए भी दोषों की अधिकता से और परांगमुख होने से तत्त्व को ग्रहण नहीं करता। जब पूर्व पुण्य के बल से योग्य होकर पुरुपार्थ में प्रवृत्त होता है तब अपने स्वस्वरूप के बोध से संसार चक्र से मुक्त होता है।

ज्ञानी पुरुष को भी अपरोक्ष आत्मानुभव के पश्चात् शेष प्रारब्ध भोग के लिये शरीर रहता है, मनकी वृत्तिका स्फुरण और चेष्टा होती है; परन्तु आत्मा का निश्चय—अनुसंधान न टूटने से, अज्ञान न होने से क्रियायें बंधनका हेतु नहीं होतीं। ऐसी अवस्था में ज्ञानी जीवन्मुक्त कहलाता है और जब मनादिक वृत्तियों का स्फुरण नहीं होता, आन्तर आत्म स्वरूप से वृत्ति का बाहर उत्थान नहीं होता तब वह विदेहमुक्त कहलाता है। विदेह मुक्त को अपने शरीर और इन्द्रिय आदिक का भान नहीं होता ऐसे ही जगत् और अन्य प्राणी पदार्थ का भान नहीं होता, पूर्व प्रवाह से दूसरे से प्रेरित होकर कुछ समय तक चेष्टा होती है वह भी अधिक काल नहीं।

प्रमाता च प्रमाणं च,
प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
तस्य भासावभासेत,
मानं ज्ञानाय तस्य किम् ॥३२॥

अर्थः—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति यह सब जिसके प्रकाश से प्रकाशते हैं, उसके जानने के लिये प्रमाण कौनसा मिले?

विवेचन ।

जो प्रमाण द्वारा जानने वाला है ऐसे जीव को प्रमाता कहते हैं। व्यष्टि अज्ञान में पड़ा हुआ चिदाभास ही कूटस्थ अधिष्ठान सहित व्यवहारी जीव है वह ही जगत के पदार्थों को जाननेवाला है। इन्द्रियां द्वारा बाहर के पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है इसीसे यह प्रमाण है। जो परब्रह्म में अध्यस्त है ऐसे जगत के नाम रूप वाले पदार्थ प्रमेय हैं और यह अमुक वस्तु है इस प्रकार का ज्ञान होना प्रमिति है। इसीसे व्यवहारिक जीव को जगत के पदार्थों को ही जानने की सामर्थ्य है। जगत के पदार्थ भी इसी के समान पर प्रकाश हैं इसीसे वह उसे जान सकता है। ज्ञान स्वरूप आत्मा स्वयम् प्रकाश होने से जीव रूप चिदाभास के जानने का विषय नहीं है। उस स्वयं प्रकाश आत्मा में लौकिक कोई भी प्रमाण काम नहीं देते, सब प्रमाणों के प्रमाण को और सब को सिद्ध करने वाले को कौन से प्रमाण से सिद्ध किया जाय? जो मनुष्य लौकिक पदार्थ के समान आत्म तत्त्व को जानना चाहते हैं, वह चाहना ही उनके अज्ञान को दृढ़ करती है।

बाहर के पदार्थ इस प्रकार से जाने जाते हैं:—जो जानने वाला अविद्योपाधि जीव है वह प्रमाता है, जब वह कोई वस्तु को जानने को चाहता है तब विना करण–इन्द्रिय, मन जान नहीं सकता। जानने के लिये अन्तःकरण की वृत्ति रूप वाले पदार्थ को देखने के लिये नेत्र इन्द्रिय द्वारा बाहर निकल कर पदार्थ जहां है

वहां तक लंबी होकर पहुंचती है। वहां पदार्थ को छूते ही पदार्थ का आवरण भंग होकर पदार्थाकार हो जाती है वहां वृत्ति नेत्र द्वारा गई वह प्रत्यक्ष चाक्षुप प्रमाण है। वहां बुद्धि की वृत्ति के अग्र भाग में रहा हुआ चिदाभास पदार्थ का प्रकाश करता है तब यह घट है ऐसा ज्ञान होता है यह प्रमिति है उसे फल भी कहते हैं और जो जानने की वस्तु घट है यह प्रमेय है। इसी प्रकार जो पदार्थ जिस इन्द्रिय द्वारा जानने का विषय होता है वह ऊपर की रीतिसे जाना जाता है। आत्मा इस प्रकार जाना नहीं जाता क्योंकि वह अपरिच्छिन्न है और प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति के भेद रहित एक स्वप्रकाश है। पारमार्थिक तत्त्व को पारमार्थिक होकर ही जान सकते हैं, आत्मा आत्मा से ही जाना जाता है वह स्वसंवेद्य होने से अन्य को जानने का विषय नहीं है, वह स्वतः प्रमाण होने से उसके ज्ञान में कोई भी लौकिक प्रमाण काम में नहीं आता।

अर्थाकारा भवेद् वृत्तिः,
फलेनार्थ प्रकाशते।
अर्थ ज्ञानं विजानाति,
स एवार्थः परः स्मृतः ॥३३॥

अर्थः—बुद्धि की वृत्ति पदार्थ के आकार की होती है और फल यानी चिदाभास से पदार्थ का ज्ञान होता है, (परन्तु) पदार्थ और पदार्थ के ज्ञान आदि को जो जानता है वही परम अर्थ (तत्त्व) है।

विवेचन ।

अब चिदाभास और आत्मा की भिन्नता को दिखलाते हैं। जब किसी पदार्थ का बोध करना होता है तब अन्तःकरण में से बुद्धि की वृत्ति इन्द्रिय द्वारा पदार्थ तक पहुंचती है और वहां रहा हुआ स्वाभाविक आवरण है; उसका भंग होकर पदार्थ के आकार की बुद्धि वृत्ति होती है। पदार्थ के पृथक् बोध के निमित्त बुद्धि वृत्ति की आवश्यकता है, वह द्रव रूप होने से पदार्थ की आकृति को धारण करती है। यहां तक बुद्धि की वृत्ति का कार्य होता है। अब पदार्थ का विशेष रूप से प्रकाश करने वाले चिदाभास की आवश्यकता है, यह चिदाभास बुद्धि वृत्ति के अग्र भाग में होता है। बुद्धि की वृत्ति ने व्यक्ति रूप से धारण किये हुए पदार्थ का बोध होता है-ज्ञान होता है, उसको फल कहते हैं और उसका प्रकाश करने वाले चिदाभास को फल चेतन कहते हैं। इन दोनों से पदार्थ का बोध होता है, बुद्धि की वृत्ति और चिदाभास परस्पर सहायक हैं। बुद्धि और बुद्धि की वृत्ति आत्मा नहीं है और बुद्धि की वृत्ति में रहा हुआ विशेष चेतन चिदाभास भी आत्मा नहीं है। बुद्धि, बुद्धि की वृत्ति, चिदाभास आदि को जो एक साथ प्रकाशता है, अपने अपने कार्य में नियुक्त होने के योग्य बनाता है, जो सब में रहा हुआ सामान्य अखंड प्रकाश स्वरूप है वह आत्मा है। वह ही वास्तविक ज्ञान स्वरूप तत्त्वरूप है और सब से परे है।

शंकाः—आत्मा के प्रकाश से जब सब प्रकाशित होते हैं; तब पृथक् पदार्थ के बोध में चिदाभास की क्या आवश्यकता है?

ये भी आत्मा कूटस्थ से प्रकाशित होते हैं ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ? एक स्वयम् प्रकाश का अस्तित्व होते हुए दूसरे चेतन को मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधानः—कूटस्थ–आत्मा सम सत्ता स्वरूप है, उसका प्रकाश सामान्य है वह पृथक्ता का प्रकाशने वाला नहीं है, उसका प्रकाश उत्पत्ति और नाश वाला नहीं है, क्योंकि जितनी पृथक्ता है वह मायिक है, माया के पदार्थ को मायिक प्रकाश की आवश्यकता है, बुद्धि और बुद्धि की वृत्ति मायिक और परिच्छिन्न है वह परिच्छिन्न के आकार को धारण करती है और उसको प्रकाशने वाला भी माया का और परिच्छिन्न होना चाहिये; ऐसा चिदाभास है इससे इन दोनों की आवश्यकता है। जैसे स्वप्न में जाग्रत जगत के सूर्य का प्रकाश काम नहीं देता वहां तो स्वप्न के सूर्य का प्रकाश ही काम में आता है। इसी प्रकार मायिक पदार्थ के बोध में मायिक चिदाभास ही काम में आता है। स्वप्न का सूर्य व्यष्टि स्वप्न सृष्टि का सूर्य है और उसकी अपेक्षा जगत का कई गुणा अधिक है, तो भी स्वप्न में काम नहीं आता; इसी प्रकार आत्म प्रकाश भी मायिक भिन्नता वाले पदार्थ के काम में नहीं आता। आत्म प्रकाश तो मायिक पदार्थ हो, न हो या नष्ट हुआ हो सब समय में होता है इसीसे वह पृथक् बोध का हेतु नहीं है।

सबको सामान्यता से एक साथ प्रकाशने वाला आत्मा पर शब्द से कहा जाता है पर शब्द का अर्थ परम है। इन्द्रिय से न

जाना जाय ऐसा वह अगोचर है वह वास्तविक अर्थ-ज्ञान स्वरूप है। वृत्ति सहित जब आत्मा का बोध होता है तब वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है और वृत्ति रहित तत्त्व में तत्त्व का बोध होता है तब वह अपरोक्ष ज्ञान है। माया और मायिक पदार्थ के ज्ञान से कर्तृत्व भोक्तृत्व की निवृत्ति नहीं होती। जब वृत्ति ब्रह्माकार हो जाती है तब वृत्ति रहते हुए भी सब कुछ परमात्मा ही है भेद कुछ नहीं है, भेद का भाव माया की उपाधि कृत है ऐसे निश्चय से समभाव में टिकता है तब वह स्वस्वरूप का बोध वाला जीवन्मुक्त होता है।

वृत्ति व्याप्यत्वमेवास्तु,
फलव्याप्तिः कथं भवेत्।
स्वप्रकाश स्वरूपत्वात्,
सिद्धत्वाच्च चिदात्मनः ॥३४॥

अर्थः—ब्रह्माकार वृत्ति भले हो परन्तु ब्रह्म में फलव्याप्ति किस प्रकार होगी? क्योंकि ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश स्वयं सिद्ध और चिद्रूप है।

विवेचन।

जगत के पदार्थों के ज्ञान के हेतु बुद्धि की वृत्ति को व्याप्त करने का कथन किया है और चिदाभास रूप फल व्याप्ति का कथन भी किया है। अब आत्मा के बोध के लिये वृत्ति व्याप्ति की आवश्यकता है फल व्याप्ति की नहीं; उसी का कथन करते हैं।

ज्ञाता को ज्ञान करने के लिये वृत्ति को पदार्थ में व्याप्त करनी पड़ती है। जैसे बाहर के पदार्थ के ज्ञान में वृत्ति को व्याप्त करनी पड़ती है, ऐसे आन्तर आत्मा के ज्ञान में भी वृत्ति को व्याप्त करनी पड़ती है क्योंकि ज्ञाता दोनों में ही समान है। जब तक वस्तु के आकार की बुद्धि की वृत्ति नहीं होती तब तक बाहर के पदार्थ अथवा आत्मा का ज्ञान होना असंभव है इसीसे आत्म बोध में भी बुद्धि की वृत्ति को व्याप्त करनी पड़ती है। जैसा पदार्थ होता है वैसा उसका प्रकाश करने वाला होता है; आत्मा स्वयम् प्रकाश होने से बाहर के पदार्थ के समान चिदाभास के प्रकाश रूप फल व्याप्ति की उसमें आवश्यकता नहीं है। परिच्छिन्न विशेप अज्ञान के पदार्थ में विशेप चैतन्य की आवश्यकता होती है, चिदाभास विशेप चैतन्य है, उसकी आवश्यकता स्वयम् प्रकाश सामान्य चेतन को जानने में नहीं होती।

दो प्रकार के प्रकाश हैं, एक अज्ञान रहित स्वयम् प्रकाश, दूसरा अज्ञान के भिन्न भिन्न पदार्थों का प्रकाश करने वाला चिदाभास। स्वयम् प्रकाश आत्मा है और दूसरा प्रकाश चिदाभास अनात्मा है। अज्ञान के पदार्थ के व्यक्तित्व का बोध चिदाभास से होता है। जब बाहर के पदार्थ का बोध होता है तब दोनों के प्रकाश में होता है। सामान्य आत्मा का प्रकाश सब में एक सा होने से पदार्थ की भिन्नता को प्रगट नहीं करता, अस्तित्व रूप से एकत्व को ही दृढ़ रखता है। 'है' इतना ही आत्मा का प्रकाश है और 'अमुक' ऐसा पदार्थ का प्रकाश चिदाभास से

होता है। प्रमाता ज्ञाता होता है और चिदाभास के प्रकाश से ज्ञान होता है।

आत्म ज्ञान में भी चिदाभास युक्त प्रमाता (जीव) साक्षात्कार के समय में ज्ञाता होता है, इसीसे वृत्ति को व्याप्त करने की आवश्यकता है। फल जो आत्मा है वह अज्ञान से आवृत्त नहीं है इसीसे उसमें चिदाभास का उपयोग नहीं। आत्म ज्ञान के पश्चात् बुद्धि की वृत्ति का भी लोप हो जाता है तब एक अखंड अद्वैत तत्त्व ही शेष रहता है। आत्म साक्षात्कार के समय बुद्धि की वृत्ति के साथ चिदाभास है परन्तु वहां उसका उपयोग नहीं है। जैसे सूर्य को देखने में सूर्य प्रकाश के साथ दीपक का प्रकाश हो तो भी वहां दीपक का कुछ उपयोग नहीं है।

शंका:—आत्मा पारमार्थिक सत्ता का है और बुद्धि व्यवहारिक सत्ता की है। व्यवहारिक सत्ता वाली बुद्धि आत्मा से व्याप्त किस प्रकार होगी ? चिदाभास युक्त बुद्धि—प्रमाता ज्ञाता भी किस प्रकार हो ? उसको यानी प्रमाता को आत्मा का ज्ञाता माना जाय तो जो ज्ञान हुआ वह मिथ्या होगा, क्योंकि व्याप्त बुद्धि और ज्ञाता प्रमाता दोनों ही मायिक हैं उन करके हुआ तत्त्व का ज्ञान भी मिथ्या होगा।

समाधान:—आत्मा पारमार्थिक सत्ता का है तो भी व्यक्ति रूप नहीं है अखंड है इसीसे व्यवहारिक सत्ता की बुद्धि अखंडाकार हो सकती है यदि पारमार्थिक सत्ता का पदार्थ व्यक्ति रूप

होता तो बुद्धि उसके आकार की हो नहीं सकती थी; आत्मा ऐसा न होने से बुद्धि की वृत्ति व्याप्त हो सकती है और आत्मा का ज्ञान जीव जो प्रमाता है; उसको होता है यह प्रमाता भी व्यवहारिक है इससे व्यवहारिक बुद्धि का उपयोग हो सकता है। आत्मा से बुद्धि की वृत्ति व्याप्त होकर आत्मा के प्रकाश में प्रमाता को आत्मा का ज्ञान होता है, यह ज्ञान मिथ्या नहीं होता क्योंकि इस ज्ञान से प्रमाता अपने को मिथ्या समझ कर, ज्ञान करता है यदि प्रमाता सत्य रह कर आत्मा का ज्ञान करता हो तो वह मिथ्या हो। प्रमाता अपने व्यक्तित्व को आत्म ज्ञान में स्थिर नहीं रखता इससे प्रमाता ने अपने विकारी अंश का वाध करके आत्म स्वरूप को जाना है और साक्षात्कार के बाद बुद्धि वृत्ति का लय हो जाने से अद्वैत तत्त्व ही रहता है। बुद्धि वृत्ति का आत्माकार होना प्रमाता को ज्ञान कराने के लिये है। आत्म ज्ञान में स्वप्रकाश आत्मा होने से प्रमाता अपने में रहे हुए चिदाभास का उपयोग वहां नहीं देखता इससे चिदाभास युक्त व्यक्तित्व का त्याग करके अपना ज्ञान करता है इसी से यह ज्ञान मिथ्या नहीं है, अखंड ज्ञान करता है। व्यक्ति व्यक्ति का ज्ञान करता तो मिथ्या होता, अपने जीव भाव का वाध करके ज्ञान करता है और साक्षी से मुख्य समानाधि-करण करता है।

लौकिक ज्ञान से आत्मा की विलक्षणता है। त्रिपुटी से सम-झते हुए त्रिपुटी का वाध करना है इससे सब मनुष्यों को सुलभ

नहीं है। जिसके मल और विक्षेप दोष निवृत्त हुए हैं जो अधिकारी के लक्षणों से युक्त होकर गुरु कृपा द्वारा आवरण दोष को क्षीण करने की सामर्थ्य वाला होता है उसको ही आत्मा का आत्म रूप से अखंड बोध होता है।

वृत्ति व्याप्ति का उपयोग मुमुक्षुओं को आत्म बोध में उपयोगी होने से अद्वैत प्रक्रिया में कथन किया गया है. उस द्वारा जब निर्विकल्पता को प्राप्त हो जाता है तब वहां वृत्ति व्याप्ति भी नहीं रहती। दृढ़ बोध के पश्चात् उत्थान काल में वृत्तियों के उत्थान और लय को जीव देखता रहता है परन्तु उसे पूर्व के समान सत्य नहीं समझता। जल के तरंग और बुदबुदे के समान समझता है और वृत्तियों के उत्थान से भी अद्वैत तत्त्व में किसी प्रकार के विकार को न होता हुआ समझ कर साक्षी रूप से ही रहता है। स्वयम् प्रकाश जिसका स्वरूप है ऐसा आत्म चैतन्य स्वयम् सिद्ध है उसे सिद्ध करने वाला अन्य कोई भी नहीं है। शास्त्र और संतों का कथन प्राप्त की प्राप्ति कराने का नहीं है। प्राप्त आत्मा अज्ञान से जो अप्राप्त के समान हो रहा है उस अप्राप्ति की निवृत्ति करने का सब कथन है।

निर्विकल्प में जिसने दृढ़ आत्म बोध कर लिया है ऐसा ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध से व्यवहार करता है तब भी उसकी ज्ञान समाधि खंडित नहीं होती, वह दीखता हुआ मनुष्य भी मनुष्य नहीं है ब्रह्मस्वरूप है शास्त्र उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

अर्थादर्थे यथावृत्ति-
गंतुं चलति चांतरे ।
अनाधारा निर्विकारा,
यादृशा सोन्मनी स्मृता ॥३५॥

अर्थः—एक अर्थ से दूसरे अर्थ में वृत्ति जाती है तब बीच में निराधार और निर्विकार अवस्था होती है वही उन्मनी कही जाती है।

विवेचन ।

मन की वृत्तियों की दौड़ विषयों में हुआ करती है, आन्तर बाहर और एक विषय से दूसरे विषय में इस प्रकार संकल्प और विकल्प की परम्परा चलती रहती है। एक विषय की तरफ मन की वृत्ति गई तब उसको उस विषय का संकल्प कहते हैं और जब उस संकल्प को छोड़कर दूसरे विषय में वृत्ति जाती है; तब प्रथम जो संकल्प था वह विकल्प हो गया और जिसमें लगी वह संकल्प हुआ। वर्तमान वृत्ति का ग्रहण संकल्प है और उसको छोड़ देना विकल्प है। इसीसे मनका स्वरूप संकल्प विकल्पात्मक कहा जाता है।

मन से ही संसार और संसार की दशा है। जिस समय मन वृत्ति से रहित होता है तब स्वरूप शेष रहता है इसीसे इस समय स्वरूप का स्पष्ट बोध हो सकता है। आत्मा के बोध को रुकावट करने वाली मन की वृत्तियां हैं, इससे वृत्तियों की संधि-क्षण में

मन वृत्ति रहित होने से तत्त्व रहता है। एक वृत्ति जाकर दूसरी वृत्ति उठती है तब दोनों वृत्तियों के मध्य में संधि है, आन्तर से वाहर जाने में संधि है, जाग्रत अवस्था को छोड़ कर स्वप्नावस्था को प्राप्त हो तव मध्य में संधि है, वाहर से आन्तर जाने में संधि है; इस प्रकार मन की वृत्तियां जहां जहां वदलती हैं वहां वहां संधि होती है। संधि की अवस्था में शुद्ध आत्म तत्त्व होने से उस स्थिति को उन्मनी कहते हैं, उन्मनी ब्रह्म स्वरूप है। मन की वृत्तियां जगत के पदार्थ का अवलंबन लेकर होती हैं और विकार से युक्त होती हैं। उन्मनी अवस्था में जगत के पदार्थों का कोई आधार नहीं है इससे वह निराधार है ऐसे ही यह स्वरूप स्थिति होने से वृत्तियों के समान आकार वाली न होकर निराकार है।

स्वरूप का वोध इस स्थिति में होता है; चाहे योगाभ्यास से यह स्थिति प्राप्त की हो अथवा वृत्तियों के संधि के विचार-विवेक से प्राप्त की हो। प्राण और मन दोनों से ऐसी स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। योगाभ्यास से प्राण द्वारा इस स्थिति की प्राप्ति होती है और विवेक से मन द्वारा इस स्थिति की प्राप्ति होती है। विचार से प्राप्त की हुई यह उन्मनी अधिक समय आरम्भ में नहीं रहती तो भी स्वस्वरूप का वोध को करा ही देती है। जिसको यह स्थिति हमेशा रहती है उसे विदेह कैवल्य कहते हैं। विदेह कैवल्य वाला शरीर युक्त दीखता है परन्तु उसे अपने और पराये शरीर चेष्टा आदि का वोध नहीं रहता, संसार की तरफ से उसका भान चला गया होता है और अद्वैत रूप होजाता है, उसके शरीर

की चेष्टा पर प्रेरित अभ्यासवश बोध रहित होती है, उसका मन अमन होजाता है, नामरूपकी प्रतीतिरहित होता है यानी जगत और उसकी भिन्नता की हमेशा के लिये निवृत्ति होजाती है, वह ब्रह्म स्वरूप ही होता है।

आनन्द स्थिति का नाम उन्मनी अवस्था है। विचार द्वारा उन्मनी अवस्था की क्षणिक प्राप्ति में भी स्वरूप का बोध हो जाता है और योगाभ्यास की उन्मनी विचार की अपेक्षा अधिक समय रहती है तो भी विचार युक्त को ही बोध होता है। विचार रहित योगाभ्यास से प्राप्त की हुई उन्मनी भी उन्मनी का फल नहीं देती। ऐसी स्थिति-समाधि तो एक प्रकार की जड़ता है। बोध न होने से उत्थान काल में शान्ति को देने वाली नहीं होती। वृत्ति निरोध को यहां उन्मनी कहा है, वृत्ति निरोध प्राण निरोध से हो जाता है। योग शास्त्र में उन्मनी का लक्षण इस प्रकार दिखलाया है:—

मन का सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में प्रवेश होकर मन स्थिरता को प्राप्त हो जाता है उसे उन्मनी कहते हैं। अथवा नेत्र के तारे का नासिका के अग्र भाग में संयोग करने से और कुछ भृकुटियों को ऊपर कर देने से आन्तर बाहर लक्ष रहित होता है, तब एक क्षणमात्र के लिये उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। उस स्थिति को दृढ़ता के साथ समझ लेना ही परमपद की प्राप्ति का उपाय है। सूर्य और चन्द्र (इड़ा पिंगला) नाड़ी में चित्त को न लगाते हुए दोनों की संधि में मन को लगाने से उन्मनी अवस्था की

प्राप्ति होती है। इस प्रकार के कथन से भी उन्मनी को संवि स्थान की ही प्राप्ति होती है।

उन्मनी अवस्था से बोध को प्राप्त करने वाले दो प्रकार के होते हैं। जब वह उत्थान काल में वृत्ति सहित व्यवहार करता है तब जीवन्मुक्त कहलाता है और उन्मनी को प्राप्त करने के पश्चात् अथवा कुछ काल बाद प्रारब्ध क्षीण होकर बहुत न्यून कर्म रह जाते हैं, तब उन्मनी से संसारमें उत्थान ही नहीं होता वह विदेह कैवल्य कहलाता है, विदेह मुक्त भी उसी को कहते हैं। जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त में अन्तर नहीं है, दोनों को ज्ञान है, शरीर के पश्चात् दोनों ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होते हैं लोक में व्यवहार के हेतु जीवन्मुक्त की वृत्ति रहती है और विदेह कैवल्य निर्विकल्प होता है।

चित्तं चिच्च विजानीयात्,
तकार रहितं यदा।
तकारो विषयाध्यासो,
जपारागो यथामणौ ॥३६॥

अर्थः—जैसे जपा कुसुम का रंग मणि में दीखता है वैसे ही विषय का अध्यास चित्त में होता है, इस चित्त में से तकार रूप विषयाध्यास को हटाकर चित् को जानो।

विवेचन।

एक चिद् रूप तत्त्व में नाम रूपात्मक जगत की प्रतीति किस प्रकार होती है उसको समझाने के लिये अध्यास का विवेचन

करते हैं। जैसे मणि हमेशा श्वेत होता है उसमें रंग है नहीं परन्तु गुड़हर के पुष्प के समीप होने से वह सुर्ख दीखता है। वह सुर्खी गुड़हर के पुष्प की है; गुड़हर के पुष्प की सुर्खी का अध्यास मणि में होता है यानी मणि में सुर्खी अध्यस्त है और मणि सुर्खी का अधिष्ठान है। न होता हुआ भी जिसमें दीखे उसे अधिष्ठान कहते हैं और जो दीखता है वह अध्यस्त कहा जाता है। अध्यस्त की सत्ता अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती, सुर्खी का भिन्न अस्तित्व नहीं है मणिका अस्तित्व सुर्खी में है, इसीसे मणि सुर्ख दीखती है। इसी प्रकार संपूर्ण जगत और उसके नाम रूप का भास चिद्रूप में होता है, चिद्रूप से नाम रूप की सत्ता भिन्न नहीं होती; चिद्रूप अधिष्टान है और नाम रूप युक्त जगत उसमें अध्यस्त है।

चित्त शब्द में अधिष्टान और अध्यस्त को दिखलाते हैं। चित् और त मिलकर चित्त हुआ है, चित् चिद्रुप है और चित्त विषय का अध्यास वाला प्रतीत होता है यह विषय का अध्यास चित् रूप अधिष्टान में त मिलने से है यानी तकार सब प्रपंच है। जैसे तकार रूप गुड़हर की लाली चित् रूप मणि में मिलते ही मणि सुर्ख दीखती है; इसी प्रकार चित् में तरूप प्रपंच का आरोप होने से प्रपंचयुक्त चैतन्य दीखता है। उस तकार रूप प्रपंच को चित्त में से हटा देने से स्वच्छ चित् रहता है इस चित् को ही चिद्रूप समझना चाहिये, यह ही एक अखंड तत्त्व है और सबका अपना आप आत्म स्वरूप है।

तकार रूप संपूर्ण प्रपंच की प्रतीति भ्रान्ति से है; जब पदार्थ का यथार्थ बोध होता है तब भ्रांति की निवृत्ति होजाती है। तत्त्व बोध होने में प्रपंच का अध्यास ही रुकावट करता है इससे उसका बाध करने से स्वस्वरूप की प्राप्ति होती है।

अध्यास दो प्रकार का है। उपाधियुक्त अध्यास और निरुपाधिक अध्यास। निरुपाधिक अध्यास में पदार्थ का यथार्थ बोध होते ही अध्यासरूप दृश्य की अप्रतीति होती है। जैसे अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी का सर्प रूप से भान तब तक ही होता है, जब तक रस्सी का यथार्थ बोध नहीं होता; रस्सी के बोध होते ही सर्प नहीं दीखता। उपाधियुक्त अध्यास में तो पदार्थ का यथार्थ बोध होने पर भी मिथ्या हुई प्रतीति बनी रहती है, जैसे आकाश में नीला रंग दीखता है। आकाश में रंग नहीं है ऐसा बोध होने पर भी रंग दीखता ही है। रंग दीखता हुआ भी मिथ्या ही हुआ है। इसी प्रकार चिद्रूप में जगत और विषयों का अध्यास उपाधिक है इसीसे मिथ्या होकर दीखता रहता है। तत्त्व ज्ञानी को 'जगत है ही नहीं' ऐसे निश्चय के साथ 'एक अखंड परब्रह्म है' ऐसा बोध होता है ज्ञान होने के पश्चात् जीवन्मुक्त मिथ्या जगत को देखता है और निरुपाधिक विदेहमुक्त तो जगत को देखता भी नहीं। तकार रूप अध्यास को दूर करके स्वस्वरूप को समझना चाहिये।

ज्ञेय वस्तुपरित्यागात्,
ज्ञानं तिष्ठति केवलम्।
त्रिपुटी क्षीणतामेति,
ब्रह्म निर्वाण मृच्छति ॥३७॥

अर्थः—ज्ञेय वस्तुका परित्याग करने से केवल ज्ञान शेष रहता है; त्रिपुटी क्षीण होने से वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है।

विवेचन ।

जो कुछ जानने का विषय होता है वह ज्ञेय कहलाता है। परम तत्त्व को यहां ज्ञेयरूप से कथन नहीं किया है क्योंकि यहां ज्ञेय का त्याग दिखलाया है इसीसे जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों के विषय होते हैं उसीको ज्ञेय कहा है, यहां ज्ञेय का अर्थ दृश्य है। जितने पृथक् रहकर जाने जाते हैं वे सब दृश्य हैं यानी ज्ञेय हैं। जानना जानने वाले से होता है, जानने वाला जानने की वस्तु को अपने से पृथक् जानता है, ऐसा ज्ञेय संपूर्ण ब्रह्मांड और ब्रह्मांड के पदार्थ हैं, ये सब माया और माया के कार्य रूप हैं इसीसे वास्तविक नहीं है, अज्ञान से ही उनकी प्रतीति मात्र होती है। सत् स्वरूप का बोध करने वाले मुमुक्षुओं को यह सब दृश्य यानी ज्ञेय का परित्याग करना चाहिये, उनका त्याग करने के बाद जो रहता है वह केवल ज्ञान-ज्ञानस्वरूप ही रहता है वही सब का अपना आत्मा और मायिक पदार्थों का आधार और अधिष्ठान है। ये सब अध्यस्त यानी अवास्तविक होते हुए भी तत्त्व की सत्ता से भासित होते हैं इससे तत्त्व बोध में वे रुकावट पैदा करने वाले हैं। उस अज्ञान के पसारे को हटा देने से स्वस्व-रूप शेष रहता है।

जहां ज्ञेयरूप दृश्य है वहां उसका द्रष्टा भी रहता है क्योंकि जिस सत्ता का ज्ञेय होता है उसका ज्ञाता भी उसी सत्ता का हो-

तब उसे जान सकता है। परिच्छिन्न ज्ञेय का ज्ञान करने वाला द्रष्टा भी परिच्छिन्न होता है, जैसा दृश्य मायिक है उसी प्रकार का उसका द्रष्टा भी मायिक है। दृश्य के परित्याग से द्रष्टा की मायिक पृथक्ता का भी त्याग होता है क्योंकि यह मायिक पृथक्ता दृश्य रूप ही है। इसीसे जो पृथक् दर्शन है वह भी उसी सत्ता का मायिक है। इसी प्रकार ज्ञेय रूप दर्शन दृश्य के त्याग में प्रथक् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप त्रिपुटी का भी क्षय होजाता है तब जो स्थिति रहती है उसको ही निर्वाण कहते हैं उसीकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मत्व के विस्मरण से भिन्नत्व की प्राप्ति होती है, भिन्न भिन्न विषयों की कल्पना होती है और कल्पना से विषयाकार होता है। प्रथम जो सद्रूप था उसमें शब्द स्पर्श आदि नाम रूप का आरोप हुआ, इसीसे ब्रह्म को जानता नहीं अपने को उससे भिन्न मान कर भिन्न विषयों की कल्पना से सम्पूर्ण सृष्टि—ब्रह्मांड का सत स्वरूप में आरोप मात्र हुआ है, सत् वस्तु में विकार होकर हुआ नहीं है इसीसे यथार्थ भी नहीं है, आरोप होने से उनका बाध हो सकता है।

जिस समय नाम रूपात्मक दृश्य—ज्ञेय का परित्याग किया जाता है तब जिसमें आरोपित किया गया था वह सत् स्वरूप-ज्ञान स्वरूप शेष रहता है जो परब्रह्म है। इस प्रकार जब परब्रह्म शेष रहता है तब व्यवहार की द्रष्टा दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी नहीं रहती, एक अखंड तत्त्व रहता है उसके बोध में स्थिति का होना ब्रह्म निर्वाण है।'

वास्तविक तत्त्व का किसी प्रकार नाश नहीं होता अज्ञान के कारण उसका भान न होते हुए भी नाश नहीं होता और आरोपित पदार्थ तो अवस्तु होने से-जिसकी अज्ञान में प्रतीति होती है उसका वाध हो सकता है। जो है नहीं और भासता है ऐसे आरोप का वाध करना वन सकता है। संपूर्ण दृश्य परम तत्त्व में आरोपित होने से मुमुक्षुओं को उनका वाध करके परम तत्त्व का वोध कर लेना चाहिये, जब स्वरूप का साक्षात्कार होजाता है तब तो दृश्य भासे तो भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि अब वह मिथ्या होकर भासता है। जैसे मरे हुए मनुष्य का शरीर भासता है परन्तु जो उसमें मनुष्यत्व था वह अब नहीं रहा। इस प्रकार वोध के पश्चात् दृश्य भासता है तो भी अब उसमें अज्ञान के न रहने से सत्यता नहीं रहती।

मनो मात्रमिदं सर्व,
तन्मनोऽज्ञान मात्रकम्।
अज्ञानं भ्रम इत्याहु-
र्विज्ञानं परमं पदम् ॥३८॥

अर्थः—यह सर्व जगत् एक मन ही से है, मन अज्ञान से है, अज्ञान केवल भ्रम है, विज्ञान ही परमपद है; इस तरह जानो।

विवेचन।

संकल्प विकल्प मनका स्वरूप है, संकल्प विकल्प करने वाला मन है इस प्रकार मन को जाना जाता है। स्थूल शरीरादिक की

अपेक्षा मन सूक्ष्म है, प्रकृति का कार्य है प्रकृति के समान उसकी प्रतीति भी कार्य द्वारा अनुमान से होती है। संकल्प विकल्प को हटा देने से मनकी सिद्धि होना ही अशक्य है, ऐसे मन ने अनेक पदार्थादिक की कल्पना की है, जैसे वह कल्पना करता है वैसे उसे पदार्थ का भान होता है। जब अज्ञान से यह मेरी कल्पना है ऐसा भान नहीं होता तब उसे पदार्थ सच्चे प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार संपूर्ण सृष्टि समष्टि मन का कार्य है और व्यक्ति मन का कार्य व्यष्टि सृष्टि है। समष्टि के सहारे से व्यष्टि मन अपनी सृष्टि की कल्पना करके उसीमें वन्धन को प्राप्त होता रहता है इसीसे यह संपूर्ण दृश्य पदार्थ सृष्टि और लोक परलोक जो मनका विषय होता है संपूर्ण मन की कल्पना का होने से मन मात्र है। मन से ही भिन्नता है मनको छोड़कर और कोई भिन्नता नहीं है, इसीसे सम्पूर्ण दृश्य मनोमय है इस प्रकार कथन किया गया है।

मन की कल्पना से युक्त होकर जीव संसार के वन्धन में पड़ा है इसीसे मन ही वन्धन का हेतु कहा जाता है। मन की वृत्तियां उत्पत्ति नाश वाली हैं, क्षण क्षण में बदलती रहती हैं और सुषुप्ति आदि में मन की वृत्तियों का अभाव हो जाता है; इसी प्रकार मन स्वयम् बदलने वाला है और उसका वनाया हुआ काल्पनिक जगत भी बदलता रहता है। मन से ही सृष्टि होने से जब तक मन है तब तक सृष्टि का भान होता है जब मन नहीं होता तब सृष्टि का भान भी नहीं होता है। जाग्रत अवस्था वाले मन से जाग्रत सृष्टि जानी जाती है; स्वप्न के मन

से स्वप्न सृष्टि जानी जाती है और सुपुप्ति में मन दवा हुआ होने से मन की सृष्टि भी नहीं रहती, मन की वनाई हुई सृष्टि होने से ही ऐसा होता है।

शरीर की तीनों अवस्था में जीव होता है यदि जीव से ही सृष्टि होती तो तीनों अवस्था में सृष्टि का भान होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं होता। जाग्रत और स्वप्न में मन प्रगट है वहां सृष्टि भी प्रगट होती है। मन की सृष्टि में मन विहार करता है और जीव अज्ञान से मन से युक्त होकर सुख दुःख को भोगता है और सुपुप्ति में मन के अभाव से जीव का भ्रमण नहीं है; इसी प्रकार तीनों अवस्था से युक्त संसार चक्र में जीव भ्रमण करता रहता है, यदि मन अभाव को प्राप्त हो जाय तो सृष्टि भी असृष्टि और ज्ञान के प्रभाव से मोक्ष होता है।

मन से यह संपूर्ण दृश्य है तव मन को विचारना चाहिये कि मन क्या है ? मनजो सच्चा हो तो मनकी वनाई हुई सृष्टि भी सत्य हो। ग्रंथकार कहता है कि मन अज्ञान मात्र है, मन अज्ञान का कार्य है इससे अज्ञान का ही स्वरूप है इसीसे उस करके वना हुआ संसार भी अज्ञान मात्र है अज्ञान छोड़ कर संसार कोई वस्तु नहीं है। अज्ञान को अवस्तु कहते हैं, जहां ज्ञान का भान नहीं होता वहां अज्ञान होता है, उस अज्ञान में अनेक प्रकार के मत की कल्पना का पदार्थ होता है, ये सव कुछ अज्ञान ही है। जैसे मृतिका का कार्य घट, सकोरे आदि अनेक प्रकार के नाम रूप वाले और भिन्न भिन्न उपयोग वाले होते हैं, वस्तुतः

सब मृतिका ही है; इसी प्रकार अज्ञान के सब कार्य अज्ञान स्वरूप ही हैं।

ऊपर अज्ञान का कथन किया है वह अज्ञान क्या है ? क्योंकि अज्ञान को जाने विना अज्ञान में से निकल नहीं सकते। ज्ञान का विरुद्ध भाव अज्ञान है, सत् को सत् न समझना अज्ञान है, असत् को सत् समझना अज्ञान है ऐसे सब प्रकार की भ्रान्ति का नाम ही अज्ञान है। भ्रान्ति से ही कुछ का कुछ भास होता है, भूल को भी अज्ञान कहते हैं, माया, अविद्या भी उसीका नाम है। अज्ञान मिथ्या होने के कारण से जिसमें अज्ञान की कल्पना होती है उसकी सत्ता ही अज्ञान में है। अधिष्ठान चेतन की सत्ता से अध्यस्त का अस्तित्व है, अध्यस्त का अस्तित्व अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता। स्वसत्ता रहित अज्ञान होता है और उसमें अज्ञान और अज्ञान के कार्य में भास और प्रियता का भी भान होता है सारांश अज्ञान केवल भ्रान्ति मात्र है।

अज्ञान के बाद ज्ञान विज्ञान का कथन करते हैं। अज्ञान युक्त मन बन्धन का हेतु है ऐसे ज्ञान युक्त मन मोक्ष को प्राप्त कराता है। अज्ञान को निवृत्त करने वाले को ज्ञान कहते हैं। जैसा जो है उसे ठीक ठीक जानने का नाम ज्ञान है। ज्ञान से आत्मा और अनात्मा कौन है, जाना जाता है। आत्मा का अनात्मा में अध्यास और अनात्मा के आत्म अध्यास की निवृत्ति होती है। ज्ञान होने से हृदय की जड़ चैतन्य की ग्रन्थि टूट जाती है ऐसे ज्ञान के पूर्ण वर्ताव का नाम ही विज्ञान है। ज्ञान बुद्धि

की वृत्ति में होता है और उसका टिकाव बुद्धि का बाध करके स्वरूप में होता है, उसी का नाम विज्ञान है। दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान की स्थिति विज्ञान रूप है। ज्ञान जानना रूप है और विज्ञान अनुभव रूप है, ज्ञान स्वरूप का नाम विज्ञान है। ज्ञान से जब अज्ञान की निवृत्ति होती है तब ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं रहती, ज्ञान भी जिसमें शान्त-लय हो जाता है वह विज्ञान है। जिसको परमपद कहते हैं वह विज्ञान है। परमपद कोई स्थान विशेष का नाम नहीं है, स्वस्वरूप में अभेद भाव से स्थिति को परमपद कहते हैं वह विज्ञान स्वरूप ही है। इस प्रकार विज्ञान को जानना चाहिये।

अज्ञानं चान्यथा ज्ञानं,
मायामेतां वदंति ते।
ईश्वरं मायिनं विद्या-
न्मायातीतं निरंजनम् ॥३६॥

अर्थः—अज्ञान और विपरीत ज्ञान को माया कहते हैं, माया वाला ईश्वर है और मायातीत निरंजन ब्रह्म है।

विवेचन।

अन्यथा ज्ञान को अज्ञान कहते हैं और विपरीत ज्ञान भी अज्ञान है यानी जो जैसा है वैसा न जानने का नाम अज्ञान है, यथार्थ ज्ञान का न होना अज्ञान है, ऐसा ज्ञान अनात्म में आत्मा का है इसीसे वह अज्ञान है। अनात्म स्वरूप में से कोई वस्तु को यानी

मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण और शरीर को आत्मा मानना अज्ञान है और आत्मा को अनात्मा मानना भी अज्ञान है यह संपूर्ण अज्ञान माया स्वरूप है, माया अज्ञान शब्द का पर्याय है। माया जादूगर के तमाशे को कहते हैं, जिसे इन्द्रजाल कहते हैं वह माया है, जो अनेक प्रकार के चमत्कार को दिखा दे और क्रिया का भी बोध करा दे; परन्तु वास्तविक में न कुछ चमत्कार हो, न क्रिया हो, न पदार्थ हो यह माया का स्वरूप है। माया अवस्तु होकर भी बहुत विस्तार वाली होती है माया ने अपने कार्य अविद्या में जीव को दबा रखा है। अथवा यों कहो कि माया के कार्य अविद्या में जीव दबा हुआ है इतना ही नहीं ईश्वर भी माया से रहित नहीं है। जीव की अविद्या जीव के सिर पर चढ़कर संसार और दुःख का अनुभव कराती है और ईश्वर की माया ईश्वर के पैर के नीचे दबी रहती है इसीसे ईश्वर का कुछ अशुभ कर नहीं सकती, माया का अधिपति ईश्वर कहा जाता है फिर भी माया की हद से ईश्वर की हद का निर्माण होता है। जीव और ईश्वर की पृथक्ता का हेतु अविद्या और माया है। जीव की अविद्या अनेक होने से जीव को अनेक दिखला रही है और ईश्वर की माया एक होने से ईश्वर एक है। माया एक होने से सब जीवों को सामान्य है और अविद्या व्यष्टि कही जाती है। अविद्या तुच्छ होने से जीव तुच्छ-अल्पज्ञ होता है और अविद्या की अपेक्षा से माया महान् निर्मल और विस्तार वाली होने से उससे युक्त ईश्वर सर्वज्ञ होता है। जीव की अविद्या निद्रा दोष से होने वाले स्वप्न के समान संसार का हेतु है और ईश्वर की माया

मनोराज के समान दीखती हुई भी ईश्वर को संसार का अथवा दुःख का हेतु नहीं होती। इसी प्रकार जीव, ईश्वर और जीव, ईश्वर कृत ब्रह्मांड अविद्या माया का फैलावा मात्र है। ईश्वर माया को समझता है इसीसे ईश्वर को माया दुःख देने में समर्थ नहीं होती, माया ईश्वर की दासी होकर संसार के कार्य का हेतु होती है। जीव अविद्या को जानता नहीं है इसीसे अविद्या का दास होकर दासत्व करता है और दुःखी होता है। जड़ पदार्थ जो माया के घन भाव को प्राप्त है उसे संसार और दुःख का भान नहीं होता परन्तु वह हमेशा संसार और दुःख से रहित स्थिति में रह नहीं सकते; घनता के भोग को समाप्त करके संसार और दुःख का अनुभव करेंगे। इसी प्रकार तत्त्वदर्शी पुरुष स्वानुभव से माया अविद्या को जानकर अवस्तुरूप कहते हैं।

अज्ञान दो प्रकार का है। एक बन्धन करने वाला और दूसरा बन्धन में से निवृत्त करने वाला। बन्धन करने वाले को अज्ञान कहते हैं और बन्धन में से निवृत्त करने वाले को ज्ञान कहते हैं। जहां अज्ञान होता है वहां ज्ञान होता है इसीसे ज्ञान भी अज्ञान की कक्षा में है। ज्ञान अज्ञान को निवृत्त करके स्वयम् भी नहीं रहता तब ज्ञान स्वरूप ही शेष रहता है। ईश्वर में रही हुई माया ज्ञान है क्योंकि ईश्वर बोध सहित है, जीव को भी जब ईश्वर के समान अपनी अविद्या का और स्वस्वरूप का बोध होता है तब अविद्या की निवृत्ति से स्वस्वरूप में स्थिति होती है यह स्वस्वरूप की स्थिति ही निरंजन देव है वह ही

परब्रह्म है। ईश्वर को माया सहित समझना चाहिये और माया रहित को परब्रह्म समझना।

बहुत से स्थान पर शास्त्रकारों ने परब्रह्म के रूप से ईश्वर का कथन किया है अथवा ईश्वर के रूप से परब्रह्म का कथन किया है, ऐसा कथन परब्रह्म से ईश्वर का अभेद करके किया है। ईश्वर मायिक है तो भी माया का कोई असर उस पर न होने से परब्रह्म ही है। जब मुमुक्षु ज्ञान को प्राप्त करके अज्ञान को काटता है तब जीवन्मुक्त स्थिति में शरीर रहते हुए भी परब्रह्म है। तत्त्व का ज्ञाता तत्त्व स्वरूप ही होता है, जिसने तत्त्व को अभेद रूप से जाना वह जानने वाला न रह कर तुरन्त जानने का स्वरूप बन जाता है। कई स्थान में ज्ञान का ज्ञान स्वरूप से अभेद करके कथन किया है परन्तु ऊपर बताया हुआ सूक्ष्म भेद अवश्य है।

सदानंदे चिदाकाशे,
माया मेघस्तडिन्मनः।
अहंता गर्जनं तत्र,
धारा सारोहि वृत्तयः ॥४०॥
महा मोहांधकारेऽस्मिन्,
देवो वर्षति लीलया।
अस्या वृष्टेर्विरामाय,
प्रबोधैक समीरणः ॥४१॥

अर्थः—सदानन्द रूप चिदाकाश में माया रूप मेघ है, विजली मन है, गर्जना अहंकार है, धारा-वृष्टि वृत्तियां हैं और अन्धकार महा मोह-अज्ञान है, देव लीला से वर्षा करता है, इस वृष्टि को वन्द करने के लिये स्वस्वरूप का वोध रूप वायु ही समर्थ है।

विवेचन।

सत् आनन्द स्वरूप जो चिदाकाश परब्रह्म है उसमें माया अविद्या का होना किस प्रकार है, जीव ईश्वर और जगत् का भेद किस प्रकार हुआ है उसीको मेघ के दृष्टांत से समझाते हैं। यह सव लीलारूप है, जैसे लीला खेल मात्र होती है; इसी प्रकार यह संपूर्ण जगत का फैलावा खेल मात्र ही है—वास्तविक नहीं है। खेल में वास्तविक तत्त्व की वदली नहीं होती; इसीसे संपूर्ण ब्रह्मांड की रचना जीवका भोग आदि होते हुए भी सच्चिदानन्द ज्यों का त्यों ही रहता है, जैसे आकाश में मेघ आदिक उपद्रव की प्रतीति होते हुए आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, अपने स्वरूप में जैसे का तैसा ही रहता है; इसी प्रकार जगत की प्रतीति में भी परब्रह्म ज्यों का त्यों ही है। लीला देखने मात्र की होती है, जव मुमुक्षु जान जाता है कि जगत लीला है और स्वरूप अखंडित है तव उसके लिये संसार नहीं रहता, उसकी स्थिति स्वस्वरूप में होती है।

सत् और आनन्द के मध्य में रहा हुआ चैतन्य आकाश स्वरूप है यद्यपि सच्चिदानन्द स्वरूप होने से अखंड है, तीनों का

भेद नहीं है परन्तु भेद की प्रतीति जिसमें होती है, जो सबका अधिष्ठान है उसको आकाश रूप से कथन किया है। आकाश तीन प्रकार का है, भूताकाश चित्ताकाश और चिदाकाश। पंच महाभूतों का आकाश भूताकाश है, जो ईश्वर सृष्टि का है। चित्ताकाश जीव सृष्टि में रहा हुआ चित्त का आकाश है और चिदाकाश शुद्धाकाश ब्रह्म स्वरूप है उस अवकाश में सृष्टि का भान होता है, उस अधिष्ठान में सृष्टि की प्रतीति होने से ही उस चैतन्य को चिदाकाश कथन किया है यह हमेशा रहने वाला आनन्द स्वरूप होने से सदानन्द है, जैसे आकाश में मेघ होता है इसी प्रकार चिदाकाश में सृष्टि का भान होता है।

वायु मेघ मंडल को एकत्र करके वर्षा करता है इसी प्रकार सदानंद रूप चिदाकाश में लीला रूप वायु मेघ मंडल यानी जगत प्रपंच को इकट्ठा कर लेती है। जब वादल इकट्ठे होकर वर्षा की तैयारी होती है तब विजलियां चमकने लगती हैं ऐसे चिदाकाश रूप आकाश में माया से मन चमकने लगता है। जैसे विजली क्षण क्षण में प्रकाश करके चंचल होती है ऐसे मन भी चंचल और क्षण क्षण में प्रकाशने वाला है। विजली के साथ में मेघ की गर्जना होती है इसी प्रकार मन के चमकने के साथ अहंकार रूप गर्जना होती है, 'मैं हूँ मैं हूँ' इस प्रकार के अनात्म में भान होना अहंकार है। ऐसी अनेक धारा प्रवाह से वर्षा होने लगती है मन की अनेक वृत्तियों का प्रवाह चलता है जैसे वर्षा की धारा छोटी वड़ी टेढ़ी सीधी अनेक प्रकार की होकर सब को भिगो देती है, इसी प्रकार मन की वृत्तियां अनेक पदार्थ के भावाभाव

से उत्पन्न होकर जीव को वृत्तिमय बना देती है, वृत्तियों से अनेक प्रकार के सुख दुःख और व्यग्रता होती रहती है। वर्षा के समय में चारों तरफ से बादल घिर जाने से अन्धेरा होता है, इसी प्रकार माया रूप मेघ से अहंकार मन और वृत्तियां छा जाने से महा मोह रूप अन्धकार फैल जाता है। जैसे अन्धेरे में पदार्थ का स्पष्ट बोध नहीं होता; इसी प्रकार महा मोह रूप अन्धकार में जीव विवेक—विचार रहित हो जाता है।

देव प्रत्यक् आत्म स्वरूप है। माया के अन्धेरे में उसको लीला करने की इच्छा हुई, इच्छा होते ही मेघाडंबर सब तरफ इकट्ठा हुआ। जो अखंड चैतन्य था उसमें बिजली के समान क्षण क्षण में प्रकाश होकर बन्द होने लगा और उसे व्यक्ति भाव की प्रतीति होने लगी। जब वह खेल कर रहा हूँ इस भाव को भूल गया तब वह खेल का एक सच्चा पदार्थ अपने को समझने लगा, मन, बुद्धि और अहंकार शरीरादिक को धारण करके 'मैं जीव हूँ' ऐसे मानने लगा। बहिर्मुख होते ही स्वानुभव स्वरूप के ऊपर परदा पड़ गया, अपने को भूलकर भूल का स्वरूप बन गया। अहंकार की गर्जना ही जीव को भ्रमण कराती है और सुख दुःख रूप संसार की वर्षा में भींजता है, ठंड लगती है और कांपने लगता है; सुख दुःखादिक अविद्या' की वर्षा का जोर बढ़ जाने से दुःख का प्रवाह चालू हो जाता है और उस प्रवाह में बहता हुआ जीव आगे से आगे चला जाता है, अविद्या प्रवाह में अनेक थपेड़ों को सहते हुए शरीर से घायल होता हुआ और

चिल्लाता हुआ परवश होकर दुःखी होता रहता है। स्त्री पुत्रादिक सर्प के समान चिपट जाते हैं; काम, क्रोध, मोह, मत्सरादि जंतू पीड़ा दिया करते हैं, कभी ऊपर चढ़ जाता है कभी नीचे लुढ़कता है और कोई वस्तु हाथ में आने से "मेरी है मेरी है" करके पकड़ता है इससे दुःखी होकर भी वह छोड़ने को समर्थ नहीं होता। कभी कभी घबरा कर मुक्त होने को चाहता है और उसके निमित्त प्रयत्न भी करता है, जितना प्रयत्न करता है उतना दुःख बढ़ता ही जाता है।ते अनन्त काल भटकहुए जब अन्तःकरण शुद्ध होता है तब मुमुक्षु बनता है और सद्गुरु की शरण जाकर उनकी कृपा से स्वस्वरूप का बोध रूप वायु फैलता है तब वृष्टि सहित अविद्या का मेघाडंबर निवृत्त होकर स्वस्वरूप स्थिति को प्राप्त होता है। प्रबोध वायु के सिवाय यह देव लीलारूप मोहांधकार की निवृत्ति नहीं होती। स्वस्वरूप का बोध किस प्रकार का होता है, उसे आगे वर्णन करते हैं।

ज्ञानं दृग्दृश्योर्भानं,
विज्ञानं दृश्य शून्यता।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म,
नेह नानास्ति किंचन ॥४२॥

अर्थः—ज्ञान में द्रष्टा दृश्य दोनों का भान रहता है, विज्ञान में दृश्य मात्र का अभाव हो जाता है और ब्रह्म एक ही केवल अद्वय है उसमें किसी प्रकार का नानात्व है ही नहीं।

विवेचन ।

जगत् में दो पदार्थ हैं एक सत् और दूसरा असत् । सत् एक ही है और असत् अनेक भेद से युक्त है । सत् को देखने वाला द्रष्टा और असत् को दीखने वाला दृश्य कहते हैं । देखने वाले और दीखने वाले पदार्थ से सब ब्रह्मांड भरा हुआ है । देखने वाला द्रष्टा एक ही है तो भी दृश्य की उपाधियों से द्रष्टा में भी अनेक भेद की प्रतीति होती है; यह अनेकता द्रष्टा की नहीं है दृश्य रूप उपाधि की है । इस तरह उपाधि युक्त द्रष्टा आपेक्षिक द्रष्टा है । इससे वास्तविक द्रष्टा नहीं है ऐसा द्रष्टा भी दृश्य रूप ही है, इससे यह सिद्ध हुआ कि देखने वाला होकर भी दूसरे के देखने का विषय होता है वह सब दृश्य हैं। दृश्य के दो भेद समझो एक हमेशा दृश्य ही रहता है किसी का भी देखने वाला द्रष्टा नहीं होता और दूसरा भेद जो एक का द्रष्टा है और दूसरे का दृश्य है । वास्तविक द्रष्टा हमेशा द्रष्टा ही रहता है वह किसी का दृश्य नहीं होता ऐसा आत्मा है और अन्य सब अनात्म दृश्य है ।

विषय दृश्य हैं, विषय किसी का द्रष्टा नहीं होता । इन्द्रियां विषय की द्रष्टा हैं और मन का दृश्य हैं । मन इन्द्रियों का द्रष्टा है और बुद्धि का दृश्य है । बुद्धि मन की द्रष्टा है और आत्मा का दृश्य है । इसी प्रकार विषय किसी का द्रष्टा न होने से केवल दृश्य ही हैं और इन्द्रियां, मन, बुद्धि तो एक का द्रष्टा और

दूसरे का दृश्य हैं, इसी प्रकार वे सब दृश्य हैं। वास्तविक द्रष्टा तो एक आत्मा ही है क्योंकि आत्मा कभी भी किसी का दृश्य नहीं होता। जो कभी भी दृश्य नहीं होता वह द्रष्टा और सब दृश्य हैं। द्रष्टा और दृश्य के बोध का नाम ज्ञान है दूसरे प्रकार से आत्म अनात्म विवेक का नाम ज्ञान है। यह ज्ञान आत्म स्वरूप की स्थिति के लिये और अनात्म भाव के त्याग के लिये होता है। यह ज्ञान परोक्ष और शास्त्रजन्य है, जिसको वास्तविक ज्ञान कहते हैं जो मोक्ष का हेतु है वह अपरोक्ष होता है उसका नाम ही यहां विज्ञान है, बुद्धि का यहां विज्ञान रूप से कथन नहीं है। ज्ञान स्वरूप जो अनुभव स्वरूप है उसको ही विज्ञान कहा है। ज्ञान आत्मा का होते हुए भी अनात्म का द्रष्टा रूप से था, अनात्मा जो दृश्य है उसी की अपेक्षा से था। जिस द्रष्टा में से दृश्य का द्रष्टापना निवृत्त हो जाता है-दृश्य सामने नहीं रहता, तब दृश्य को देखने वाला द्रष्टा भी नहीं कहा जाता ऐसा जो तत्त्व है, जहां संपूर्ण दृश्य लीन होते हैं उसको ही विज्ञान कहते हैं। ज्ञान दृश्य रूप संपूर्ण प्रपंच को हटाने वाला है, इसके बाद रहा द्रष्टा और ज्ञान ये दोनों का भी जहां विलय है उस स्थिति का नाम विज्ञान है। विज्ञान ही परम पद है, दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान जिस तत्त्व का होता है उसी का नाम विज्ञान है; परम पद की प्राप्ति का वह ही साधन और स्थान है। द्रष्टा दृश्य का विवेक विज्ञान का उपकारक है परन्तु जब तक यह दोनों भेद हैं तब तक विज्ञान कहा नहीं जाता। यह विज्ञान एक है, अद्वय है, ब्रह्म है और उसमें किंचित् भी

नानात्व—भिन्नता नहीं है, सबका आद्य तत्त्व वह ही परब्रह्म है जो सबका अपना आप है।

अन्तिम तत्त्व एक से अधिक नहीं हो सकता इसीसे परब्रह्म एक ही है जो अधिक को अन्तिम में रखते हैं वे आत्म तत्त्व तक पहुँचे नहीं हैं। अज्ञान की दशा में उसका बोध नहीं होता तो भी सबका आधार और वस्तु स्वरूप होने से वह एक ही है। दूसरे तीसरे आदिक की अपेक्षा वाला एक समझा जाय ऐसा नहीं है, उसको समझने के लिये अद्वैत शब्द का भी कथन किया है। ब्रह्म का अर्थ व्यापक है ऐसा अद्वैत तत्त्व स्वरूप होने से उसमें माया, अविद्या और उनके सब कार्यों की किंचित् भी भिन्नता वहां नहीं है यह अद्वय और अव्यक्त ही है। अवस्तु स्वरूप माया और अविद्या वस्तु स्वरूप तत्त्व में भेद करने को कभी भी समर्थ नहीं होती। अज्ञान में पड़े हुए मुमुक्षुओं को समझाने के लिये अद्वैत आदि शब्दों का उपयोग किया है जब उस तत्त्व स्वरूप का अपने आत्मा से अभेद बोध होजाता है तब वह विज्ञान कहलाता है और यह विज्ञान ही परमपद है।

द्रष्टा दृश्य का विवेक करने से सम्पूर्ण दृश्य निवृत्त होजाता है, दृश्य की शून्यता होजाती है तब द्रष्टा वास्तविक स्वस्वरूप में रहता है, उसमें सब नामरूप का आरोप ही मात्र था इसीसे उनकी निवृत्ति हो सकती है और पश्चात् जो शेष तत्त्व रहता है वह ही मेरा आत्मा स्वस्वरूप से अखंड चराचर में विराजमान है। इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से विकार भाव रहित स्थिति से यानी दृढ़ अपरोक्ष

ज्ञान से अनादि अज्ञानरूप संसार की उसके कार्य सहित संपूर्ण निवृत्ति होकर परमानंद की प्राप्ति हो जाना विज्ञान है। विज्ञान ही विज्ञान है अन्य सब कुछ भी नहीं है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं,
तज्ज्ञानं ज्ञानमुच्यते।
विज्ञानं चोभयोरैक्यं,
क्षेत्रज्ञ परमात्मनोः ॥४३॥

अर्थः—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं और क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता के अनुभव को विज्ञान कहते हैं।

विवेचन।

द्रष्टा दृश्य के विवेक से विज्ञान को समझाकर अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान द्वारा विज्ञान को समझाते हैं। क्षेत्र जड़ होता है यह सब कोई जानते हैं, खेत को क्षेत्र कहते हैं। जैसे किसान खेत में से अन्नादि पदार्थों से सुखी दुःखी होता है, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ-खेत का मालिक जीव शरीर के सुख दुःखादि पैदा करके सुखी दुःखी होता है और शरीरके सुख दुःखादिक को अपना मानता है। खेत से पैदा होने वाले अन्न से किसान भिन्न होता है। इसी प्रकार शरीर से और सुख दुःख से जीव भिन्न है तो भी क्षेत्र के अभिमान से अपने को क्षेत्र रूप समझता है। क्षेत्र का मालिक जो क्षेत्रज्ञ है उसकी क्षेत्र के साथ में एकता हो गई है इसीसे उसके विवेक की आवश्यकता है, विवेक किये बिना

कितना क्षेत्र है और कितना-किस प्रकार का क्षेत्रज्ञ है ये जानने में नहीं आता। दोनों मिली हुई वस्तु में से दोनों को पृथक् करके भिन्न भिन्न समझना विवेक है, इसके ज्ञान को क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विवेक-ज्ञान कहते हैं।

स्थूल शरीर क्षेत्र है, क्योंकि स्थूल शरीर से ही शुभाशुभ कर्म और मोक्ष की प्राप्ति होती है इसीसे यह क्षेत्र है। स्थूल शरीर जड़ है क्योंकि मरण समय में व्यवहारिक चेष्टा का अभाव देखते हैं इसीसे जड़ता का स्पष्ट बोध होता है और दुर्गंध युक्त व्यवहार के अनुपयोगी समझकर लोग उसे जला देते हैं अथवा जमीन में गाढ़ देते हैं। स्थूल शरीर जितनी सामग्री सहित है वे सब जड़ हैं। देखने में आने वाले स्थूल शरीर के भीतर दो शरीर और हैं जो सूक्ष्म और कारण शरीर करके कहे जाते हैं। कारण शरीर की सत्ता सूक्ष्म शरीर में आती है और सूक्ष्म शरीर की सत्ता स्थूल शरीर में आती है तब स्थूल शरीर चेष्टा के योग्य होता है। जैसे पंचीकृत किये हुए पंच महाभूतों का स्थूल शरीर बना है ऐसे अपंचीकृत पंच महाभूतों का सूक्ष्म शरीर है, इसीसे यह भी क्षेत्र है। सूक्ष्म शरीर दृष्टि का अविषय है परन्तु वह कार्य द्वारा जाना जाता है। प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और अन्तःकरण की सब वृत्तियां सूक्ष्म शरीर रूप हैं, चेतन की सत्ता से चेतन हो ऐसा दीखता है तो भी जड़ है क्योंकि वह जड़ माया का कार्य है। स्थूल शरीर के समान उसका मृत्यु होता नहीं, क्योंकि स्थूल शरीर कर्म का फल रूप है और सूक्ष्म शरीर तो

अविद्या का होने से जब तक अविद्या का समूल नाश नहीं होता तब तक नाश को प्राप्त नहीं होता, उसमें संस्कारों की बदली हुआ करती है। तीसरा कारण शरीर अविद्या स्वरूप ही है इसीसे यह भी जड़ और क्षेत्र है। इस प्रकार तीनों शरीर और इनका सब विकार क्षेत्र है। यानी अव्यक्त माया, पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, पांच विषय, इच्छा द्वेष, सुख, दुःख, धैर्यादि वृत्तियां, सब का समुदाय रूप यह शरीर और उनमें पड़ा हुआ चेतन का आभास जो जगत् में चेतन दीखता है यह सब क्षेत्र है।

ऊपर बताये क्षेत्र को समझने के बाद उनसे शेष रहा हुआ आत्मा क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र को जानने वाला और क्षेत्र के मालिक को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्रज्ञ हमेशा है; कभी उत्पन्न हुआ नहीं है इसीसे अनादि है, जो लौकिक सत् असत् रूप से कहा नहीं जाता है, सब इन्द्रियों से रहित होकर भी सब इन्द्रियां और उनके गुणों को प्रकाशता है, निर्गुण है और गुणों का महा भोक्ता है; सब के भीतर और बाहर भरा हुआ है, प्रत्येक प्राणी का अपना आत्म स्वरूप है, वह क्षेत्रज्ञ अद्वय होते हुए भी अनेकों के साथ अनेक हुआ हो ऐसा दीखता है, वह ही सब का उत्पत्ति, स्थिति और लय स्थान है, अज्ञान से परे है ज्योतियों का ज्योति, ज्ञान, ज्ञान करने योग्य, ज्ञान द्वारा जानने के योग्य और सब के हृदय में विराजमान है उसको जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह सब का आधार अधिष्ठान और सब को सत्ता स्फूर्ति देने वाला है।

संपूर्ण ब्रह्मांड अविवेक—अज्ञान से, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से बना हुआ है। यह दोनों का मेल अविद्या स्वरूप है इस प्रकार जो संपूर्ण विकार सहित क्षेत्र को और अविकारी क्षेत्रज्ञ को जानना है उसीको ज्ञान कहते हैं। क्षेत्रज्ञ ही प्रत्यगात्मा है जिसको साक्षी कूटस्थ भी कहते हैं।

क्षेत्र अज्ञान स्वरूप है और क्षेत्रज्ञ ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान करके अज्ञान की निवृत्ति होती है तब ज्ञान की भी आवश्यकता न रहने से ज्ञान की पृथकता नहीं रहती; इस प्रकार अज्ञान और ज्ञान की जिसमें एकता होजाती है उसे विज्ञान कहते हैं विज्ञान ही वास्तविक परब्रह्म है। प्रत्यगात्मा जो क्षेत्रज्ञ रूप है उसका ज्ञान होने के बाद परब्रह्म से एकता होती है, प्रत्यगात्मा परब्रह्म से अभिन्न है ऐसे निश्चय में टिकता है उसीका नाम विज्ञान है। ज्ञान में प्रत्यगात्मा का बोध होता है और प्रत्यगात्मा से परब्रह्म में एकता का होना विज्ञान है। शुद्ध अद्वैत विज्ञान ही होता है, विज्ञान ही परब्रह्म है और वह ही मोक्ष है।

परोक्षं शास्त्रजं ज्ञानं,
विज्ञानं चात्म दर्शनम्।
आत्मनो ब्रह्मणः सम्य-
गुपाधि द्वयवर्जितम् ॥४४॥

अर्थः—शास्त्रजनित ज्ञान परोक्ष होता है और आत्मा के साक्षात्कार से विज्ञान होता है इसमें आत्मा और ब्रह्म दोनों की उपाधियों का त्याग होता है।

विवेचन ।

आत्मबोध के निमित्त अध्यात्म शास्त्र की प्रवृत्ति है। शास्त्र आत्मा और परब्रह्म को अनेक प्रकार की युक्तियों से समझाते हैं परन्तु शास्त्र शब्द में है इसीसे शब्दजनित शास्त्रज्ञान होता है, शब्द का जो अर्थ समझा जाता है उसीके अनुसार परोक्ष ज्ञान होता है। जहां शब्द के अर्थ रूप वस्तु से सम्बन्ध न हो, पदार्थ परदे सहित होता है वह ज्ञान परोक्ष होता है। परोक्ष ज्ञान मिथ्या नहीं होता परन्तु उसे पूर्ण ज्ञान नहीं कह सकते। सुनकर जो ज्ञान हुआ है वह अनुभव रूप न होने से परोक्ष होता है। शास्त्र में पढ़ लिया कि ब्रह्म है उसको जान लिया परन्तु ब्रह्म कौन है, कहां है? इस प्रकार जानकर ज्ञान नहीं हुआ है इसीसे परोक्ष है। गुरु शब्द से उपदेश करते हैं, शिष्य शब्द को सुनकर जानता है परंतु शब्द के वास्तविक अर्थ रूप वस्तु ब्रह्मको उसकी बुद्धि ग्रहण नहीं करती तब तक परोक्ष ज्ञान ही होता है। जैसे स्वर्ग में अधिक सुख है ऐसा जो जाना गया वह परोक्ष ज्ञान है क्योंकि मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हुए विना स्वर्ग का अनुभव नहीं कर सकता। जब पदार्थ इस लोक से बाहर होता है तब बुद्धि वृत्ति का पदार्थाकार होना और चिदाभास से प्रकाशित होना नहीं होता इसीसे ऐसे सब ज्ञान परोक्ष ही होते हैं; परन्तु आत्मज्ञान, आत्मा अपना ही आत्मा होने से विशेष युक्ति द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होने के योग्य है।

व्यवहारिक ज्ञान के पदार्थ जो ज्ञाता से भिन्न हैं उसका परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार का ज्ञान हो सकता है, जब

परदे सहित पदार्थ का ज्ञान हो; ज्ञाता पदार्थ से भिन्न रहकर पदार्थ को जानता है तब परोक्ष ज्ञान है और जब ज्ञाता पदार्थ के देश में पदार्थ का ज्ञान करता है तब अपरोक्ष ज्ञान होता है। अपरोक्ष ज्ञान परदे रहित होता है। जैसे एक टोपी को जानना है वह दोनों प्रकार से है, टोपी सामने पड़ी है इसीसे प्रत्यक्ष कही जाती है तो भी उसके परोक्ष ज्ञान में अप्रत्यक्ष के समान ही होती है। जिस स्थान पर टोपी है वहां बुद्धि की वृत्ति जाकर वहां ही 'यह टोपी है' ऐसा ज्ञान का होना अपरोक्ष ज्ञान है और टोपी को बुद्धि की वृत्ति व्याप्त होकर चिदाभास से प्रकाशित होकर ज्ञाता के अन्तःकरण देश में 'टोपी है' ऐसा बोध करे तब वह ज्ञान परोक्ष होता है। पदार्थ के स्थान में पदार्थ का ज्ञान करना अपरोक्ष ज्ञान है।

आत्म ज्ञान दो प्रकार का होता है, परोक्ष और अपरोक्ष। आत्मा नित्य प्रत्यक्ष है तो भी अज्ञान से परोक्ष हो रहा है; इसी से बुद्धि की वृत्ति और चिदाभास से प्रकाशित आत्मा परोक्ष होता है वह ज्ञान आत्म देश के अज्ञान के कारण होने से परोक्ष है और जब बुद्धि वृत्ति से आत्मा व्याप्त होकर स्वयं प्रकाश से प्रकाशित होता है तब आत्म देश में आत्मा का ज्ञान होने से अपरोक्ष ज्ञान होता है। सांराश यह है कि शास्त्र और गुरु द्वारा शब्द से हुआ सामान्य ज्ञान परोक्ष होता है और वह ही अनुभव से अपरोक्ष होता है। अपरोक्ष आत्मज्ञान में ज्ञाता की ज्ञेय से एकता होती है, अपरोक्ष ज्ञान का नाम विज्ञान है, विज्ञान में आत्मदर्शन होता है—विज्ञान ही आत्मदर्शन है।

जैसे अन्य पदार्थ का ज्ञान त्रिपुटी सहित होता है वैसे आत्म ज्ञान नहीं होता। त्रिपुटी में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन वस्तु होती हैं। जानने वाला ज्ञाता, जानना ज्ञान और जिसको जाना जाता है वह ज्ञेय। आत्म ज्ञान में तो जानने वाला, जानना और जानने का पदार्थ एक ही होने से आत्मज्ञान लौकिक ज्ञान से विलक्षण है। लौकिक ज्ञान से विलक्षण होने से भी जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान ही है। विज्ञान करके जो आत्मदर्शन हुआ है वह प्रत्यक् आत्मा का हुआ है यह यथार्थ दर्शन है तो भी इतने से ही विज्ञान की समाप्ति न समझना चाहिये। आत्मा जो जीव है उसकी सब उपाधियों का त्यागकर चैतन्य का ग्रहण करके और परब्रह्म जो ईश्वर है उसकी उपाधियों का त्याग करके रहा हुआ चैतन्य जीव चैतन्य से अभिन्न है इस प्रकार अभिन्न बोध ही विज्ञान की परिसीमा है, विज्ञान में माया अविद्या के अभाव सहित एकता है। विज्ञान अद्वय बोध स्वरूप है, इस प्रकार का जीवात्मा वस्तुतः परब्रह्म से अभिन्न है ऐसा जब बोध होता है तब परमपद होता है।

स्वमर्थ विषयं ज्ञानं,
विज्ञानंतत्पदाश्रयम्।
पदयोरैक्य बोधस्तु,
ज्ञान विज्ञान संज्ञकम् ॥४५॥

अर्थः—त्वं के अर्थ (जीव) को विपय करने वाला ज्ञान है और तत् पद के अर्थ (ब्रह्म) का विपय विज्ञान है, दोनों पदों के ऐक्य के ज्ञान को ज्ञान विज्ञानरूप अनुभव ज्ञान कहते हैं।

विवेचन ।

ऊपर जो जीव ईश्वर की उपाधि का त्याग करके विज्ञान का कथन किया है उसीको यहां महा वाक्य के पद द्वारा अधिकता से समझाते हैं। सामवेद का महा वाक्य जो तत्त्वमसि है उसमें तीन पद हैं। तत् त्वं और असि। तत् का अर्थ वह है यानी ईश्वर है त्वं का अर्थ तू यानी जीव है और असि पद से दोनों पदों की एकता की गई है।

त्वं पद का अर्थ जो जीव है वह जितना ज्ञान करता है वह विपयरूप से करता है क्योंकि अविद्या उपाधि से युक्त जीव विपय ज्ञान छोड़कर स्वस्वरूप के ज्ञान करने में असमर्थ है। जीवका संपूर्ण व्यवहार चिदाभास से युक्त होता है इसीसे जीव भाव सहित उसने किया हुआ आत्म वोध परोक्ष ज्ञान ही है। जव जीव अविद्या के भाव से रहित होता है तव शुद्ध स्वरूप होता है, शुद्ध होना ही आत्मवोध है त्वं पद जीव के दो अर्थ हैं वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ। कर्ता भोक्ता व्यवहारिक जीव त्वंपद का वाच्यार्थ है। वाच्यार्थ वाले जीव का स्वरूप कूटस्थ, व्यष्टि अज्ञान और आभास तीनों का एक भाव है उसमें कूटस्थ प्रत्यगात्मा साक्षी है। व्यष्टि अज्ञान और चिदाभास मायिक हैं ये दोनों उपाधियां जीव में हैं, यह उपाधि युक्त जीव वाच्यार्थ है

और जब वह दोनों उपाधियों का बाध करता है तब शेष रहा हुआ जो कूटस्थ है वह जीव का सच्चा स्वरूप होने से त्वं पद का लक्ष्यार्थ है। तत् पद जो ईश्वर है उसके भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दो अर्थ हैं, सृष्टि कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर तत् पद का वाच्यार्थ है। वाच्यार्थ वाले ईश्वर का स्वरूप, ब्रह्म, माया और उसमें पड़े हुए आभास तीनों का एक भाव है। उसमें ब्रह्म चैतन्य परब्रह्म है, माया और उसमें पड़े हुए चैतन्य का आभास दोनों उपाधि हैं, इन उपाधियों का त्याग करने से शेष रहा हुआ ब्रह्म ईश्वर का स्वस्वरूप होने से तत् पद का लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार जीव के लक्ष्यार्थ कूटस्थ और ईश्वर के लक्ष्यार्थ ब्रह्म दोनों का अभेद है, दोनों भिन्न नहीं हैं एक हैं, दोनों का समानाधिकरण है इसीसे असि पद से दोनों की एकता है। भिन्नता के हेतु दोनों की उपाधियों का त्याग होने से चैतन्य तत्त्व में किसी प्रकार का भेद न रहा। यह विज्ञान परब्रह्म है।

जीव विषय का ज्ञान करने वाला होने से विषय ज्ञान का आश्रय कहा है। जीव वृत्ति सहित परोक्ष ज्ञान को करता है। ईश्वर उपाधि युक्त है ऐसा कथन जीव को समझने के लिये ही है वास्तविक तो ईश्वर उपाधियों के संयोग से भी विकार रहित ही है, इसीसे ब्रह्मस्वरूप है, उसके आश्रय रहे हुए ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। जीव के हृदय में रहा हुआ चिदाभास विषय का ज्ञान करने वाला है और कूटस्थ में विज्ञान होता है। कूटस्थ जैसे व्यष्टि जीव का शुद्ध स्वरूप है वैसे समष्टि ईश्वर का शुद्ध स्व-

रूप परब्रह्म है दोनों की एकता होने से कूटस्थ में विज्ञान है; इस प्रकार जीव ईश्वर ज्ञान विज्ञान की एकता विज्ञान तत्त्व है।

वृत्ति ज्ञान यानी सविकल्प ज्ञान परोक्ष ज्ञान होता है, निर्विकल्प ज्ञान यानी अपरोक्ष ज्ञान विज्ञान होता है; विज्ञान ब्रह्म स्वरूप है इसीसे जिसको अनुभव ज्ञान होता है वह ब्रह्म स्वरूप है। जैसे ब्रह्म को माया अविद्या अवस्तुरूप होने से विकार को पैदा करने वाली नहीं होती, इसी प्रकार जीवन्मुक्त को भी विकार पैदा करने वाली नहीं होती। जैसे ब्रह्म के आधार में अविद्या का फैलावा और उसका प्रकाश है इसी प्रकार जीवन्मुक्त भी ब्रह्म स्वरूप होने से सब का आधार और प्रकाशक होता है। मरी हुई माया-अविद्या मुरदारूप दीखने में भी उसे किसी प्रकार की हानि पहुंचा नहीं सकती, वह हर हालत यानी शरीर सहित और शरीर रहित आनंद स्वरूप में मग्न होता है। जीवन्मुक्त स्थिति में भी ब्रह्म निर्वाण के अखंडित सुख का आस्वाद लेता है।

आत्मानात्म विवेकस्तु,
ज्ञान माहुर्मनीषिणः।
अज्ञानं चान्यथालोके,
विज्ञानं तन्मयं जगत् ॥४६॥

अर्थः-आत्मा और अनात्मा के विवेक को विद्वान् पुरुष ज्ञान कहते हैं, अन्यथा ज्ञान को अज्ञान कहते हैं और ब्रह्म ही जगत् है ऐसे जानना विज्ञान है।

विवेचन ।

तत् पद और त्वं पद के वाच्यार्थ में रही हुई दोनों की उपाधि अनात्म स्वरूप है और दोनों का लक्ष्यार्थ आत्म स्वरूप है; उसीको यहां आत्म अनात्म का विवेक द्वारा समझाते हैं। संपूर्ण जगत् में दो पदार्थ हैं, आत्मा और अनात्मा। प्रथम जिसको क्षेत्रज्ञ करके वर्णन किया है वह आत्मा है और क्षेत्र रूप से वर्णन किया हुआ अनात्मा है। दोनों के विवेक को विद्वान् पुरुष ज्ञान कहते हैं। जो उत्पत्ति नाश वाला, विकारों को प्राप्त होने वाला, हमेशा एक हालत में न रह कर वदलने वाला, माया अविद्या का और महाभूतों का कार्यरूप है, परिच्छिन्न है वे सव अनात्म हैं और इनसे विरुद्ध सत् स्वरूप, चित् स्वरूप, आनंद स्वरूप, उत्पत्ति नाश रहित, विकार रहित, अपरिच्छिन्न, अखंडित तत्त्व स्वरूप, सब का अपना आप आत्मा होता है।

आत्मा और अनात्मा दोनों भिन्न हैं ऐसा वोध अज्ञान से नहीं होता। अज्ञान और उसके कार्य करके अज्ञानियों का आत्मा ढका हुआ होने से आत्मा की प्रतीति, नहीं होती, जव पूर्व के शुभ संस्कारों का उदय होकर योग्यता प्राप्त करके मनुष्य आत्म ज्ञान की इच्छा करता है तव ऐसे मुमुक्षुओं को आत्मा अनात्मा का विवेक करने की आवश्यकता है। अव्यक्त प्रकृति से लेकर स्थूल शरीर तक अविद्या के कार्य नाम रूप से आत्मा ढपा है। अविद्या के कारण शरीर से लेकर स्थूल शरीर तक पांच कोष रूप पांच परदे हैं इनसे आत्मा ढपा है। उस परदे का बोध

करके उनको अनात्मा समझकर हटाने से आत्मा शेष रहता है, इसको पंचकोष विवेक कहते हैं यह ही आत्मा अनात्मा का विवेक है। इस प्रकार तीनों शरीर के भाव को हटाने से अथवा नाम रूप का बाध करने से भी आत्मानात्म का विवेक होता है।

स्थूल शरीर में एक कोष है उसे अन्नमय कोष कहते हैं, यह अन्नमय कोष माता पिता के खाये हुए अन्न से बने हुए रज वीर्य से उत्पन्न होता है, अन्न से ही जीता रहता है और जब नाश को प्राप्त होता है तब अन्नमय पृथ्वी में ही लय होता है। उत्पत्ति है, है, बढ़ता है, युवा होता है, वृद्ध होता है और मरता है ऐसे विकारों से युक्त है। पंचीकरण किये हुए पंच महाभूतों से बना है इसी से अनात्मा है, आत्मा नहीं है।

प्राणमयकोष सूक्ष्म शरीर में तीसरा कोष है प्राणवायु का स्वरूप है। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, यह पांच प्रकार का प्राण वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ यह पांच कर्मेन्द्रिय इनसे बना हुआ प्राणमयकोष है। अपने से पूर्व वाले कोष में से सत्ता लेकर कार्य करता है, अविद्या का कार्य है, उत्पत्ति नाश वाला, विकारी और जड़ है इसीसे अनात्मा है।

मनोमयकोष सूक्ष्म शरीर का दूसरा कोष है, मन और श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण इन पांच ज्ञानेन्द्रिय से बना है, जीवात्मा को विषय बोध कराने का साधन रूप है यह उत्पत्ति नाश वाला, विकारी और परिच्छिन्न होने से अनात्मा है।

विज्ञानमय कोष सूक्ष्म शरीर में प्रथम कोष है, बुद्धि उसका स्वरूप है उस कोष में कर्ता भोक्ता का अभिमान होता है। बुद्धि और मनोमय कोष में दिखाई हुई पांच ज्ञानेन्द्रिय सहित विज्ञानमय कोष है मनोमय कोष में रही हुई ज्ञानेन्द्रिय साधन रूप है और विज्ञानमय कोष में रही हुई ज्ञानेन्द्रिय कर्ता से युक्त है। विज्ञानमय कोष भी अविद्या का कार्य उत्पत्ति नाश वाला और विकारी होने से अनात्मा है।

आनन्दमय कोष व्यष्टि अज्ञान रूप है अबोध, जड़ है, कभी होता है और कभी नहीं होता इससे विकारी और अन्य कोषों का कारण होने से अनात्मा है। इस प्रकार क्रम क्रम से पांचों कोषों को पृथक् करने पर एक अखंड चैतन्य तत्त्व सबका आधार शेष रहता है उसे आत्मा समझना चाहिये। जिस प्रकार मूंज में से ऊपर के छिलके को हटाकर मध्य के सलाई का ग्रहण करते हैं; इसी प्रकार पांच कोषों का बाध करके रहा हुआ आत्मा का ग्रहण करना आत्म अनात्म विवेक है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन शरीर हैं। कारण शरीर को सूक्ष्म शरीर ने ढांपा है और सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर ने ढांपा है। पंचीकृत पंच महाभूतों का बना हुआ स्थूल शरीर जड़, विकारी, उत्पत्ति नाश वाला होने से अनात्मा है, ऐसा समझ कर हटाना चाहिये। सूक्ष्म शरीर स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म है और अपंचीकृत पंच महाभूतों का कार्य है; पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और मन बुद्धि ऐसे सतरह तत्त्वों से बना हुआ

विकारी जड़ होने से अनात्मा समझ कर हटाना चाहिये। कारण शरीर अव्यक्त है, अविद्या का है, विकारी और जड़ है उसको भी अनात्मा समझ कर हटाना चाहिये; ऐसे तीनों शरीर को हटाकर शेष रहे हुए को आत्मा समझना आत्म अनात्म विवेक रूप ज्ञान है।

नाम रूप अविद्या का कार्य होने से अनात्मा है और नाम रूप का आधार अस्ति, भाति, प्रिय सच्चिदानन्द स्वरूप होने से आत्मा है इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में आत्मा का विवेक करना चाहिये। ऐसे विवेक को ज्ञान कहते हैं, ऐसे विवेक से उलटे भाव सब अज्ञान हैं ज्ञान अज्ञान का नाश होता है तब ज्ञानाज्ञान दोनों का जो वास्तविक स्वरूप है वह ब्रह्म है। ज्ञान से अज्ञान का नाश होकर ज्ञान भी लय होता है तब विज्ञान शेष रहता है विज्ञान तत् ब्रह्म स्वरूप है इसीसे संपूर्ण जगत् भी वस्तुतः परब्रह्म ही है।

अन्वय व्यतिरेकाभ्यां,
सर्वत्रैकं प्रपश्यति।
यत्तु तद्वृत्तिजं ज्ञानं,
विज्ञानं ज्ञान मात्रकम् ॥४७॥

अर्थः—अन्वय और व्यतिरेक द्वारा जो सर्वत्र एक ही को देखना है वह तो वृत्ति द्वारा किया हुआ ज्ञान है, विज्ञान केवल ज्ञान ही ज्ञान है।

विवेचन ।

ऊपर जो विवेक दिखलाया है उसे अन्वय व्यतिरेक की युक्ति द्वारा भी दिखलाते हैं। सबका आद्य आधार कारणों का कारण और वास्तविक सबका अस्तित्वरूप परब्रह्म होने से अन्वय और व्यतिरेक की युक्ति से भी वह ही शेष रहता है। अन्वय नाम सम्बन्ध का है और व्यतिरेक सम्बन्ध से रहित को हटाकर-अलग करने को कहते हैं। एक पदार्थ में रहा हुआ दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध से अथवा उसके कारण दूसरे पदार्थ को ग्रहण करना उसे अन्वय कहते हैं और प्रथम पदार्थ जिसका सम्बन्ध अंश दूसरे पदार्थ से नहीं है अथवा जो दूसरे का कार्य है उसे हटा देना व्यतिरेक है। अन्वय को महत्त्व देना और व्यतिरेक को तुच्छ समझकर हटाते जाना चाहिये। जिसको अन्वय करके ग्रहण किया था उसमें भी फिर अन्वय और व्यतिरेक को करना चाहिये। इस प्रकार करते करते जिस अन्वय के पदार्थ में व्यतिरेक करने का कोई न रहे वह शुद्ध स्वरूप परब्रह्म होता है। जगत् और जगत् के सब पदार्थों में अविद्या का सम्बन्ध है परन्तु वह अवस्तु होने से अन्तिम टिक नहीं सकती और परब्रह्म तो सत् स्वरूप होने से सबका आद्य है। माया-अविद्या अपने कार्य सहित निवृत्त हो जाती है, परब्रह्म किसी प्रकार भी निवृत्त नहीं होता।

स्थूल शरीर से जगत् का सब प्रकार का व्यवहार होता है, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर सहित सब प्रकार के कार्य करता है,

सूक्ष्म शरीर रहित स्थूल शरीर कोई भी कार्य नहीं कर सकता। मुरदा शरीर है परन्तु उसमें सूक्ष्म शरीर न होने से व्यवहार की चेष्टा कर नहीं सकता, इसीसे स्थूल शरीर तुच्छ है और सूक्ष्म की महत्ता है; ऐसा समझ स्थूल शरीर के भाव को हटा देना स्थूल शरीर का व्यतिरेक हुआ और सूक्ष्म शरीर का भाव करना अन्वय हुआ। सूक्ष्म शरीर भी कारण शरीर युक्त है, कारण शरीर न हो तो सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता, जैसे वृक्ष की जड़ वृक्ष के रहने का कारण है, ऐसे सूक्ष्म शरीर का कारण कारण शरीर है। सूक्ष्म शरीर थकित होकर कारण शरीर में ही दबता है, इसीसे सूक्ष्म शरीर तुच्छ है और कारण शरीर को महत्त्व है। सूक्ष्म शरीर के भाव का हटाना व्यतिरेक हुआ और कारण शरीर का ग्रहण अन्वय हुआ। कारण शरीर अविद्या से युक्त है, कारण शरीर अप्रत्यक्ष व्यष्टिरूप है और अविद्या समष्टि रूप है इसीसे कारण शरीर तुच्छ और अविद्या का महत्त्व है; ऐसा समझकर कारण शरीर के भाव को छोड़ना व्यतिरेक है और शेष अविद्या का ग्रहण करना अन्वय है। अब रही अविद्या, उसमें अपना अस्तित्व नहीं है परब्रह्म के अस्तित्व से ही उसकी प्रतीति है ऐसी यह अविद्या है इसीसे उसकी तुच्छता है और परब्रह्म की विशेषता है; ऐसा समझकर अविद्या के भाव को हटाना उसका व्यतिरेक हुआ और शेष परब्रह्म का ग्रहण अन्वय हुआ। यह अन्तिम अन्वय है, परब्रह्म अखंड होने से उसमें से व्यतिरेक करने का कोई भी पदार्थ नहीं है उसको जानना ज्ञान है।

जैसे तीनों शरीरों का अन्वय व्यतिरेक करके अन्तिम आत्मा को—परब्रह्म को जाना ऐसे प्रत्येक पदार्थ में से अन्वय व्यतिरेक करके तत्त्व को जान सकते हैं, नाम रूप वाले सब पदार्थों में से अन्वय व्यतिरेक से ज्ञान कर सकते हैं। ऐसा किया हुआ ज्ञान अन्तःकरण की वृत्तिजन्य है यानी अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा होता है। सब पदार्थों में एक ही तत्त्व का बोध होता है। ज्ञान के पश्चात् जब ज्ञान वृत्तिका भी अभाव होता है तब स्वस्वरूप ही रहता है यह अखंड है, यह विज्ञान ही विज्ञान है।

अज्ञानं ध्वंसकं ज्ञानं,
विज्ञानं चोभयात्मकम्।
ज्ञान विज्ञान निष्ठेयं,
तत्सद्ब्रह्मणि चार्पणम् ॥४८॥

अर्थः—अज्ञान का नाश करने वाला ज्ञान है और उभयात्मक विज्ञान है यह ज्ञान विज्ञान की निष्ठा स्वस्वरूप ब्रह्म में अर्पण की जाती है।

विवेचन।

मैं जीव हूँ सुखी दुःखी हूँ अल्पज्ञ और जन्मने मरने वाला हूं ऐसा जीव भाव अज्ञान है। जगत् सत्य है और जगत् में का एक मैं हूं ऐसा समझना और अपने शुद्ध तत्त्व को न जानना उसका नाम अज्ञान है। जगत् व्यवहारिक दशा में सत्य है और उसके सुख दुःख जन्म मरण भी सत्य हैं ऐसा न समझ कर

पारमार्थिक में सच्चा समझना अज्ञान है। स्वरूप से जो जैसा है ऐसा न जानना अज्ञान है। अपने वास्तविक स्वरूप का पूर्ण बोध न होने में अज्ञान होता है। अज्ञान में अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। जब अनेक जन्म कष्ट भोगते भोगते जीव उकता जाता है और पूर्व के शुभ संस्कार मदद रूप होते हैं तब उसे जगत् रूप बन्धन में से निवृत्त होने की इच्छा होती है; योग्यता प्राप्त करके गुरु शरण जाकर स्वस्वरूप का विशेषता से बोध करता है उसका नाम ज्ञान है। अपने सच्चे स्वरूप को परब्रह्म से अभेद जानना और इसके सिवाय सब को माया और माया का कार्य जानना-तुच्छ समझना उसको आत्म ज्ञान कहते हैं। ऐसे ज्ञान से मैं शुद्ध आत्म स्वरूप, असंग, अकर्ता, अभोक्ता, जन्म मरण से रहित मोक्षस्वरूप हूं ऐसा दृढ़ बोध होता है। अनादि काल का अज्ञान जो नीच ऊंच योनियों में जन्म धारण कराता था और अनेक प्रकार के दुःख का हेतु था ज्ञान होने से उसका नाश हो जाता है। ज्ञान के न होने में ही अज्ञान की स्थिति थी इसीसे आत्म ज्ञान होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है। ज्ञान और अज्ञान एक दूसरे से विरुद्ध प्रकाश और अन्धेरे के समान है प्रकाश होते ही अन्धेरा नहीं रहता; इसी प्रकार ज्ञान होते ही अज्ञान निवृत्त हो जाता है। ज्ञान दो प्रकार का है, परोक्ष और अपरोक्ष। परोक्ष ज्ञान सामान्य ज्ञान होने से अज्ञान का नाश नहीं कर सकता परन्तु अपरोक्ष ज्ञान विशेषता वाला होने से विशेषता वाले अज्ञान का नाश करता है। अज्ञान है यह सामान्य अज्ञान और मैं अज्ञानी हूँ यह विशेष अज्ञान है। परब्रह्म है यह परोक्ष

ज्ञान है और यह मेरा आत्मा ही परब्रह्म स्वरूप है यह अपरोक्ष ज्ञान है। मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप अखंड हूँ इस प्रकार का विशेष ज्ञान—अपरोक्ष ज्ञान मैं अज्ञानी हूँ इस प्रकार के विशेष अज्ञान का नाश करता है।

परब्रह्म के संपूर्ण प्रकाश को आवरण करने के लिये अज्ञान समर्थ नहीं है। इसीसे परब्रह्म का विशेष बोध न होने में ही अज्ञान की सिद्धि होती है। परब्रह्म स्वरूप सब किसी को सामान्य होने से उसका सामान्य बोध विशेष अज्ञान का नाश नहीं करता और यह विशेषता वाला अज्ञान जगत् में दुःख रूप है उसे हटाने के लिये विशेष ज्ञान की आवश्यकता है। परब्रह्म वृत्ति रहित सामान्य होने से वृत्ति वाले विशेष अज्ञान को हटाता नहीं है इसीसे वृत्ति युक्त विशेष अपरोक्ष ज्ञान ही विशेष अज्ञान को हटाने में समर्थ है। 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ' ऐसा वृत्तिजन्य विशेष ज्ञान से सामान्य और विशेष सबके अज्ञान की निवृत्ति द्रष्टा को होती है।

परब्रह्म स्वरूप प्रकाश ज्ञान अज्ञान और सब कार्यों का सामान्य प्रकाशक है परब्रह्म को ज्ञान प्रिय हो और अज्ञान अप्रिय हो, इस प्रकार नहीं है ज्ञान और अज्ञान का भेद अविद्या की कल्पना में है यह भेद परब्रह्म में नहीं है वह अद्वय अखंड स्वरूप है, 'यह परब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान से जब अज्ञान की निवृत्ति होती है तब ज्ञान शेष रहता है, अज्ञान को निवृत्त करने के लिये ही ज्ञान को उत्पन्न किया था। जिस निमित्त

उसको उत्पन्न किया वह कार्य उसने कर दिया अब उसकी आव-श्यकता न रही। अज्ञान को जला कर जैसे अग्नि लकड़ियों को जला कर स्वयम् भी शांत होजाती है इसी प्रकार ज्ञान भी शांत होजाता है: अपने अधिष्ठान में लय भाव को प्राप्त होजाता है, वृत्ति युक्त अज्ञान को निवृत्त करके नहीं रहता है तब विज्ञान परब्रह्म ही शेष रहता है। विज्ञान में ज्ञान और अज्ञान का लय है; वह ज्ञान और अज्ञान का आधार होने से लय स्थान है, दोनों का वास्तविक स्वरूप भी विज्ञान ही है। ज्ञान और अज्ञान का लय होने तक अविद्या की कल्पना थी इसलिये व्यवहारिक सत्ता की थी सबका शेष विज्ञान ही पारमार्थिक सत्ता स्वरूप है। ज्ञान और विज्ञान की निष्ठा करके मैं के व्यक्तित्व को ब्रह्म में अर्पण कर देना ब्रह्मार्पण है। अपना भिन्न भाव न रहना ब्रह्मार्पण है ऐसी निष्ठा से परब्रह्म ही परब्रह्म रहता है। ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न होता है इसीसे वृत्ति ज्ञान है, विज्ञान वृत्ति रहित है। ज्ञान जीव ने किया था और वृत्ति रहित विज्ञान साक्षी के सहारे था। वृत्ति ज्ञान में परब्रह्म से पृथक्ता और विज्ञान में कुछ अंश में विज्ञान का ज्ञाता इन दोनों प्रत्यगात्मा के भावों का परब्रह्म में होम कर देना, यह भाव एक होजाय ऐसे ब्रह्मार्पण में ज्ञाता मिटकर ब्रह्म स्वरूप होजाता है यह अन्तिम तत्त्व है—परमपद मोक्ष स्थान और ब्रह्म निर्वाण है।

जब ज्ञाता इस प्रकार ज्ञान विज्ञान को परब्रह्म में एक कर देता है और व्यवहारिक चेष्टा शरीर से होती है इसी समय वह

जीवन्मुक्त कहलाता है। इस अवस्था में वह ब्रह्म स्वरूप होने से ज्ञान से और अज्ञान से उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह निजानंद में ही मग्न है, उत्थान रहित सहज समाधि को प्राप्त होता है, शरीर की चेष्टा से भी उसे कोई हानि लाभ नहीं है। जैसे जगत् और जगत् के व्यवहार होने में सबका अधिष्ठान परब्रह्म अलिप्त ही रहता है; इसी प्रकार ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ जीवन्मुक्त अलिप्त सबका आधार रूप ही होता है। उसकी दृष्टि में अन्तःकरण और शरीर की चेष्टा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

भोक्ता सत्त्वगुणः शुद्धो,
भोगानां साधनं रजः।
भोग्यं तमोगुणः प्राहु-
रात्मा चैषां प्रकाशकः ॥४६॥

अर्थः—शुद्ध सत्त्वगुण भोक्ता है, रजोगुण भोग का साधन है, तमोगुण भोग्य है और आत्मा इन सबका प्रकाशक है।

विवेचन।

प्रकृति के गुणों से सब व्यवहार होता है, प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था वाली है, प्रकृति से हुई विकृति में तीनों गुणों की पृथक् प्रतीति होती है यह सतो रजो और तमोगुण तीन प्रकार की है। सतोगुण निर्मल है इसीसे सतोगुण में भोक्ता होता है, ज्ञान भी सतोगुण में ही होता है इसीसे उसमें ज्ञान

शक्ति है। रजोगुण भोक्ता का साधन रूप है, भोग रजोगुण में होता है और क्रिया होने से क्रिया शक्ति है, तमोगुण जड़ स्वभाव होने से द्रव्य पदार्थ रूप है उन पदार्थों का भोग होता है।

आत्मा असंग निर्विकार अखंड है तो भी अज्ञान से अन्तः-करण और वृत्ति सहित चिदाभास से टुकड़ा हो, इस प्रकार अपने को समझकर पदार्थों का भोक्ता वनता है। अन्तःकरण की वुद्धि वृत्ति कर्ता भाव वाली होती है, उसके अभिमान से जीव अपने को कर्ता भोक्ता मानता है। सतोगुण जिसमें अधिक है और रजोतमोगुण दवे हुए हैं ऐसे निर्मल सतोगुण में जीव भोक्ता वनता है। अन्तःकरण की दूसरी वृत्ति मनरूप है वह भोक्ता का साधन रूप है, मन इन्द्रियों से युक्त होकर भोक्ता का साधन वनता है, जव वह मन ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होता है तव ज्ञान करता है और जव कर्मेन्द्रियों से युक्त होता है तव कर्म करता है। क्रिया साधन रूप है वह रजोगुण में होती है, जिसमें सतो तमोगुण दवे हुए और रजोगुण अधिक होता है ऐसा रजोगुण क्रियात्मक है। मन, प्राण, इन्द्रियादि भोग का साधन है। भोग विषय का होता है, भोग पदार्थ जड़ है उसमें सतो रजोगुण दवे हुए होते हैं और तमोगुण अधिक होता है।

इसी प्रकार तीनों गुणों से भोक्ता भोग का साधन और भोग व्यवहार में होते हैं, आत्मा असंग है इसीसे उसमें तीनों गुणों की सिद्धि नहीं है तो भी अज्ञान से भोक्ता आत्मा ही माना जाता है, वास्तविक तो यह तीनों का प्रकाशक है यानी भोक्ता वुद्धि

सहित चिदाभास को आत्मा प्रकाशता है; मन, प्राण, इन्द्रियादि भोग के साधन को आत्मा प्रकाशता है और भोग्य पदार्थ को भी आत्मा प्रकाशता है। भेद रहित ही आत्मा का प्रकाश होता है और भेद ज्ञान का हेतु तो अन्तःकरण में रहा हुआ चिदाभास ही होता है। भेद ज्ञान में भी भेद ज्ञान को छोड़कर रहा हुआ ज्ञान-प्रकाश आत्म स्वरूप है इसीसे आत्मा में वास्तविक सुख दुःख और परिच्छिन्नता नहीं है। आत्मा में सुख दुःख का भान अज्ञान रूप भ्रांति से होता है। आत्मा अन्तःकरण उसकी वृत्ति शरीर और पदार्थ आदि सबको प्रकाशता हुआ असंग निर्विकार ही अपने स्वरूप में रहता है। वहां बन्ध और मोक्ष नहीं है, जिस अज्ञानी को बन्ध की प्रतीति होती है उसे मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न-पुरुषार्थ करना चाहिये। आत्मा मोक्ष स्वरूप होते हुए भी अज्ञानियों को आत्म बोध के सिवाय मोक्ष स्वरूप परमानन्द नहीं होता। मैं आत्म स्वरूप से सर्वत्र व्यापक हूँ, अखंड हूँ, अद्वय स्वयम् प्रकाश स्वरूप हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय—अनुभव का नाम आत्मबोध है और बोध स्वरूप में टिकना ही परमपद है।

ब्रह्माध्ययन संयुक्तो,
ब्रह्मचर्य रतः सदा।
सर्वं ब्रह्मेति यो वेद,
ब्रह्मचारी स उच्यते ॥५०॥

अर्थः—ब्रह्म का अध्ययन करता हुआ सदा ब्रह्मचर्य ही से रहे, सब कुछ ब्रह्म है ऐसा जो जानता है वह सच्चा ब्रह्मचारी है।

विवेचन ।

बन्धन की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये ज्ञान प्राप्त करने का वर्णन प्रथम कर चुके हैं उसीके निमित्त ब्रह्मचर्य धारण करने की आवश्यकता है। चार आश्रम में से ब्रह्मचर्य प्रथम आश्रम है, ऐसे ब्रह्मचर्य आश्रम का आधार रूप ब्रह्मचर्य है। गृहस्थाश्रम आदि तीन आश्रमों का द्वार रूप है। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम को सुख पूर्वक करके क्रम से वानप्रस्थ और संन्यस्त धारण किया जाता है। यहां जिस ब्रह्मचर्य का वर्णन किया है उसमें क्रम से ब्रह्म बोध को प्राप्त करने का नहीं है, सीधे ही ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले लक्षणों को ब्रह्मचर्य कहा है। परब्रह्म को प्राप्त करने के लिये योग्यता सहित जो आचरण उसका नाम ब्रह्मचर्य है। परब्रह्म अखंड एक रस है, अपनी महिमा में टिका हुआ अपने स्थान से कभी भी भ्रष्ट नहीं होता, स्वस्वरूप में ही रहता है उसीको प्राप्त करने के लिये प्राप्त करने वाले में भी कई अंश में ऐसा लक्षण होना ब्रह्मचर्य कहा जाता है। स्वस्वरूप में रहने वाला होने से ब्रह्म को अच्युत कहते हैं और अपने स्वरूप से गिर जाता है उसे च्युत कहते हैं। अपने आत्म भाव में-शुद्ध भाव में जो रहता है उसीका नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म प्राप्ति के हेतु से किया हुआ वर्ताव ब्रह्मचर्य है। लौकिक आश्रम का ब्रह्मचर्य भी वास्तविक ब्रह्मचर्य का साधन रूप है जिसका आठ प्रकार के लक्षणों से युक्त शास्त्र में वर्णन किया है।

ब्रह्म प्राप्ति का हेतु भूत ब्रह्मचर्य अखंडित होना चाहिये। कायिक, वाचिक और मानसिक सब प्रकार के ब्रह्मचर्य को साधना

चाहिये। राग, द्वेष, मोह ममत्व, काम, क्रोध आदि विकार का शरीर में आवेश न हो, शरीर समभाव में ही रहे उसका नाम कायिक ब्रह्मचर्य है, केवल वीर्यपतन न हो ऐसा संकुचित अर्थ न करना चाहिये ऐसे ब्रह्मचर्य से बहुत से स्थूल दोषों की निवृत्ति होती है। इन्द्रियां स्वस्थान स्वविषय में वर्तते हुए नीच, अशुद्ध, दुःखकर, रजोगुणी भाव में न गिर जांय उसका नाम वाचिक ब्रह्मचर्य है। इससे इन्द्रियां निर्मल होती हैं, इन्द्रियों के विकारों का क्षय होता है और मनको ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बना देना मानसिक ब्रह्मचर्य है। जितने मानसिक भाव संसारिक पदार्थ और भोग के ऊपर होते हैं अथवा स्वर्गादिक के ऐश्वर्य के ऊपर होते हैं। जो मनको गिरा देने वाले हैं जिसका मन इन भावों से रहित होजाय आत्म भाव में आंतर्मुखवृत्ति करने लगे उसका नाम मानसिक ब्रह्मचर्य है। कायिक-वाचिक ब्रह्मचर्य से मानसिक ब्रह्मचर्य की पुष्टि होती है ऐसा ब्रह्मचर्य देश काल और प्रसंग के वन्धन से रहित होना चाहिये। संसार और संसारिक सब बंधन मनका आत्म भाव में से हटकर अनात्म भाव में लग जाने से है इसीसे मन से ही वन्धन और मन की शुद्धि से मोक्ष प्राप्ति का वर्णन है।

अधिकारी के लक्षण जो शास्त्रकारों ने वर्णन किये हैं इनसे यानी आत्म अनात्म विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता से युक्त होकर गुरुमुख से वेदान्त का श्रवण करे और उसका मनन करते हुए अपने को अध्यात्म भाव में ही रखने का प्रयत्न करे। सुनना समझना, उपदेश लेना देना, पढ़ना पढ़ाना और

रहस्य का विचार करे, इनमें ही अत्यन्त प्रेम रखकर निदिध्यासन में प्रवृत्त होता है उसे ब्रह्मचारी कहना चाहिये। ब्रह्म प्राप्ति के हेतु में जिसका रमण है वह ही ब्रह्मचर्य यहां पर अभिप्रेत है। ऐसे ब्रह्मचर्य से दृढ़ अपरोक्ष बोध होकर मोक्ष–परमपद की प्राप्ति में विलंब नहीं होता।

जब मन ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा को प्राप्त होजाता है तब जगत् के भेद को देखता हुआ और पूर्ण शेष प्रारब्ध के वश व्यवहार में प्रवृत्त होता हुआ भी 'सब कुछ परब्रह्म है, परब्रह्म छोड़कर और किसी में वास्तविकता नहीं है, सब उसीका विवर्त है' ऐसे जानता है। वास्तविक द्रष्टा होकर उसके आत्म दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता। परब्रह्म को प्राप्त होकर परब्रह्म में ही रमण करता है। वास्तविक दृढ़ता से वह ब्रह्म स्वरूप ही है।

गृहस्थो गुण मध्यस्थः,
शरीरं गृहमुच्यते।
गुणाः कुर्वंति कर्माणि,
नाहं कर्तेति बुद्धिमान्॥५१॥

अर्थः—गृहस्थ गुणों के मध्य में रहता है, शरीर को घर कहते हैं गुण ही कर्म करते हैं मैं कर्ता नहीं हूँ ऐसा बुद्धिमान् समझता है।

विवेचन।

तीनों गुणों से युक्त पंचीकृत पंच महाभूतों से बना हुआ स्थूल शरीर है। जीवात्मा को रहने का स्थान होने से घर है;

सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर और उनमें के पदार्थ घर में कार्य करने की उपयोगी सामग्री हैं, ये दोनों भीतर के कमरे हैं वहां से बोध करने के लिये ऊपर की तरफ खिड़कियां लगी हैं जो नेत्र कर्ण नासिका आदि हैं; नीचे की तरफ मल फेंकने का स्थान और मलीन जलादि जाने के लिये मोरी है। यह मकान मांस और हड्डियों से चुना हुआ है और ऊपर सफेद काला आदि रंग किया गया है; पैर खंभे हैं, हाथ झूलता हुआ गोख है, बड़ी बड़ी हड्डियां बल्लियां लगी हैं, छत मस्तक है जिसमें छोटे छोटे घास के समान बाल हैं। इस मकान के भीतर में सब सामग्री रखी हुई है। अव्यक्त से लेकर स्थूल शरीर पर्यंत और उसके सब व्यवहार प्रकृति के हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है इसीसे शरीर का टिकाव गुणों के मध्य में है, गुणों से बना हुआ शरीर गुणों के मध्य में रहता है और शरीर में रहा हुआ देहाभिमान घर में टिका हुआ है इसीसे देह का अभिमान ही गृहस्थी है। अभिमान ने घर, द्वार, इन्द्रियां, विषय और कर्ता भोक्ता के भाव का संग्रह कर रखा है। सब संग्रह का स्थान घर है और उसमें वह टिका हुआ होने से गृहस्थी है। जिसका घर, कुटुम्ब और विस्तार हो वह गृहस्थी होता है, इसीसे देहाभिमान गृहस्थी है।

विवाह करके घर में स्त्री को लाकर रखने वाले को और कुटुम्ब का पोषण करने वाले को गृहस्थाश्रमी कहते हैं। शास्त्र-कारों ने मनुष्य जीवन को चार भाग में विभक्त किया है:—बाल्या-वस्था में विद्याध्ययन करके योग्यता प्राप्त करना ब्रह्मचर्य आश्रम है, इसके पश्चात् विवाह करके धनोपार्जन करके शास्त्र नियमानु-

सार कुटुम्ब का पोषण करना गृहस्थाश्रम है। ऐसे गृहस्थाश्रम का यहां विवेचन नहीं है यहां बताया हुआ गृहस्थी इनसे विशेष भाव में टिका हुआ है। चारों आश्रमों में से किसी में रहते हुए जो देहासक्ति—देहाध्यास से युक्त है उसे यहां गृहस्थी कहा है।

देह गुणों से बना है और उसमें गुणों के न्यूनाधिक प्रमाण भेद करके पदार्थ में साध्य साधन और साधक का भेद हुआ है। जैसे गुणों से देह बनी है इसी प्रकार देह को "मैं हूं" अथवा 'मेरी है' ऐसा मानने वाला उसका मालिक भी देहाध्यास व गुणों से युक्त है। जैसे गृहस्थी का सब विस्तार होता है इसी प्रकार अज्ञान से बना हुआ शरीर देहाध्यास और उनका सब विस्तार होने से देह के विषे देहाध्यास ही गृहस्थी है। इस प्रकार गृहस्थी बनकर उच्च नीच योनि में जन्म मरण और सुख दुःख को भोगा करता है; जब तक देहाध्यास को निवृत्त नहीं करता तब तक गृहस्थी बना रहता है। जब घर पुराना होता है अथवा किसी कारण से रहने के योग्य नहीं रहता तब उसे छोड़कर घर में रहने वाला दूसरे घर में रहने को जाता है। स्थूल शरीर रूप घर का भी वही हाल है किसी कारण से देहाध्यास वाला जीव जब उसे अपने रहने के योग्य नहीं समझता तब छोड़ता है। देहासक्ति होने के कारण अपनी इच्छा से छोड़ता नहीं है बलात्कार से ही छोड़ना पड़ता है। शुभाशुभ कर्म के पड़े हुए संस्कार के अनुसार दूसरे शरीर में जाकर टिकता है। स्थूल शरीर में रहकर भोग होता है इसीसे उसे भोगायतन—भोग का स्थान कहते हैं। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते

समय भोग भोगने का साधन इन्द्रियादिक को सूक्ष्म भाव से अपने साथ ले जाता है इन कारणों से वह गृहस्थी है। अनेक पदार्थों के अनेक प्रकार के भाव को ग्रहण कर रखता है इसीसे गृहस्थी है अथवा अविद्या रूप ग्रह-ग्राह से पकड़ा गया है इसीसे गृहस्थी है। जब तक गृहस्थी है तब तक शान्ति, सुख और स्वस्वरूप की प्राप्ति रूप जो परमानन्द है वह नहीं होता।

व्यष्टि रूप गृहस्थी को इस प्रकार दोष रूप समझकर अज्ञान में फँसा हुआ जान कर, विवेकी पुरुष आत्मा का विवेक करके अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, शरीर में टिका है तो भी अपने को शरीर वाला नहीं मानता और शरीर से होने वाली क्रियायें भी मुझसे होती हैं, मैं कर्ता हूँ ऐसा नहीं मानता। बुद्धिमान् मनुष्य तो आत्म ज्ञान प्राप्त करके 'गुण गुण में ही वर्तते हैं वे गुण ही कर्ता, करण और कार्य रूप से होते हैं, मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं तो सब का प्रकाशक असंग अपरिच्छिन्न होने से शरीर और शरीर से होने वाले कार्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे सूर्य सब को स्वाभाविक प्रकाशता है इसी प्रकार मैं स्वयम् ज्योति अविद्या के कार्यों को स्वाभाविक प्रकाशता हूँ, मेरी निगाह में न अविद्या है न अविद्या का कोई कार्य है, मैं ही मैं हूँ; इस प्रकार दृढ़ निश्चय वाला ही गृहस्थी नहीं है, ऐसा निश्चय जिसको नहीं है वे रंगीन वस्त्रधारी अथवा त्यागी कहाते हों तो भी सब गृहस्थी ही हैं। जब तक अज्ञान है तब तक दुःख का हेतु गृहस्थी छुटती नहीं है। परब्रह्म से अपने आत्मा को अभेद समझने वाले को अज्ञान और उसमें दीखने वाले अनेक भेद सब मेरे ही विस्तार

है ऐसा दीखता है, सब ही शरीर उसे अपना दीखता है वह पर-ब्रह्म स्वरूप ही है। उसकी समष्टि रूप गृहस्थी है, महा गृहस्थी है सब प्रकार के दोषों से रहित वह पूर्ण गृहस्थी है। ऐसा गृहस्थी बनना ही गृहस्थाश्रम आदि सब आश्रमों का सार्थक करना है। परब्रह्म होते हुए गृहस्थी है और गृहस्थी होते हुए परब्रह्म स्वरूप है।

किमुग्रैश्च तपोभिश्च,
यस्य ज्ञानमयं तपः।
हर्षामर्ष विनिर्मुक्तो,
वानप्रस्थः स उच्यते ॥५२॥

अर्थः—जिसका तप ज्ञानमय है उसको उग्र तपस्या करने से क्या लाभ ? जो हर्ष शोक से मुक्त है उसीको वानप्रस्थ कहते हैं।

विवेचन।

गृहस्थाश्रम छोड़कर संन्यासाश्रम में जाने के मध्य में संन्यास की योग्यता प्राप्त करने के लिये वानप्रस्थ आश्रम होता है। वानप्रस्थाश्रम में अधिकता से तप ही होता है। अन्तःकरण मलिन होने से संन्यास का अधिकारी नहीं होता इसीसे अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला मुख्य आश्रम वानप्रस्थ ही है। उसमें अनेक प्रकार की कठिन तपश्चर्या की जाती है। स्त्री सहित अथवा स्त्री रहित गृहस्थाश्रम को समाप्त करके वन में जाकर रहना पड़ता है। वहां पंचाग्नि आदि उपासना करने में शारीरिक,

वाचिक और मानसिक तपश्चर्या करनी पड़ती है; ऐसी तपश्चर्याएं करने में शरीर, इन्द्रियां और मन को कष्ट होता है; इस प्रकार कष्ट से साध्य होने वाला वानप्रस्थाश्रम क्रम से मोक्ष मार्ग का हेतु होता है। जिसको ज्ञान रूप तप की विधि मालूम हो जाती है वह उससे शुद्ध होकर सुलभता से वानप्रस्थाश्रम की सार्थकता कर लेता है। यह सच्चा वानप्रस्थ है।

जिसमें सब की समाप्ति होती है उसे ज्ञान कहते हैं, ज्ञान तत्त्व अद्वितीय है, उस बोध में बोध स्वरूप शेष रह कर अन्य सब की समाप्ति होती है इसीसे उसे ज्ञान यज्ञ भी कहते हैं। जब तक ज्ञान यज्ञ नहीं होता तब तक अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते हैं और किये हुए यज्ञ को फिर भी कर सकते हैं। ज्ञान यज्ञ फिर होने वाला यज्ञ नहीं है, एक ही समय ज्ञान यज्ञ होता है, इस यज्ञ के होने से सब यज्ञ और ज्ञान यज्ञ की भी समाप्ति होती है इसीसे ज्ञान यज्ञ ही पूर्ण यज्ञ है और सब यज्ञ लौकिक अपूर्ण यज्ञ हैं। अन्य यज्ञों से स्वर्गादिक प्राप्ति रूप फल होता है अथवा कर्तव्य रूप निष्कामता से किया हुआ यज्ञ से अन्तःकरण की शुद्धि रूप फल होता है और ज्ञान यज्ञ से तो परमपद ही होता है इसीसे ज्ञान यज्ञ ही यज्ञ अथवा पूर्ण तप है। अन्य यज्ञ–तप, ज्ञान यज्ञ को क्रम से मदद देने वाले हो सकते हैं।

तप करने से जब मैल हट जाता है तब शुद्धि होती है। जिस प्रकार कोई मलिन धातु को क्षार युक्त तपाई जाती है तब उसमें रहा हुआ मैल का नाश होता है; इसी प्रकार ज्ञान रूप तप से

आत्मा में माना हुआ अनात्मा का मैल भिन्न होकर ज्ञानाग्नि से जल जाता है। अन्य यज्ञ अपनी योग्यता के अनुसार शुद्धि करने वाले होते हैं और ज्ञान यज्ञ तो संपूर्ण शुद्धि करने वाला होने से सर्व से श्रेष्ठ है संपूर्ण तप का निचोड़ है। ज्ञान रूप तप से ज्ञान स्वरूप ही शेष रहता है उसमें अनन्त गुणी शुद्धि करने की सामर्थ्य है और आद्य शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कराता है, इसीसे ज्ञान रूप यज्ञ में संपूर्ण की आहुति होकर यज्ञ करने वाला कृतार्थ हो जाता है, हर्ष शोक को तैर जाता है। उसे हर्ष शोक अपना विषय न समझ कर छोड़ कर भाग जाते हैं।

जिसने ज्ञान यज्ञ रूप तप करके कृतार्थता प्राप्त कर ली है वह वास्तविक वानप्रस्थ है। संसारी मनुष्यों की दृष्टि में संसार ही बस्ती है और परब्रह्म निर्जन देश होने से वन के समान है। वानप्रस्थ वन में बसता है इसी प्रकार सच्चा वानप्रस्थ भी निर्जन देश जो परब्रह्म है उसमें जाकर बसता है। ऐसे वानप्रस्थ को कष्ट पूर्ण तपश्चर्या करने की आवश्यकता नहीं रहती, वह निर्जन देश में हमेशा क्रीड़ा करता है।

देहन्यासो हि संन्यासो,
नैव काषाय वाससा।
नाहं देहोऽहमात्मेति,
निश्चयो ज्ञान लक्षणम् ॥५३॥

अर्थः—देह का अहं भाव छोड़ देना ही संन्यास है, भगवे वस्त्र पहनने से संन्यास नहीं होता; 'मैं देह नहीं हूं मैं आत्मा हूं' ऐसा निश्चय ही ज्ञान का वास्तविक लक्षण है।

विवेचन।

देह पंच भौतिक है वह वारम्वार अज्ञान से कर्म के अनुसार उत्पन्न होकर भोग के साथ नया कर्म करता है इसीसे अज्ञान में घटि यंत्र के समान भ्रमण किया करता है। जो देह के वन्धनों से मुक्त होने को चाहता है वह त्याग करता है—संन्यास धारण करता है। संन्यासाश्रम चौथा आश्रम है, संन्यास में भगवा वस्त्र धारण किया जाता है। 'मैं जगत् से उदासीन हुआ हूँ, मैं परब्रह्म के मार्ग का पथिक हूँ, मैंने संसार और संसार के कर्म को काम और अविद्या सहित जला दिया है इसीसे मैं अग्नि स्वरूप बना हूं" ऐसा चिह्न रूप भगवा वस्त्र होता है। जिसने कार्य सहित अविद्या का नाश नहीं किया वह भगवा वस्त्र धारण करके संन्यासी नहीं होता। देह का त्याग तो वारम्वार हुआ ही करता है और फिर देह को धारण करना पड़ता है इसीसे देह का त्याग भी संन्यास नहीं है; देह रहते हुए जिसने देहाध्यास—देह के अहं ममत्व का त्याग कर दिया है वह संन्यासी है।

जो आत्मा नहीं है, जो आत्मा का नहीं है उस अनात्मा का आत्म भाव से ग्रहण हुआ है, उसको अविद्या सहित त्याग करने से ज्ञान होता है इसीसे ऐसे त्याग को यहां संन्यास कहा है, त्याग—संन्यास से ही ज्ञान होता है, इसीसे संन्यास का लक्षण ज्ञान का लक्षण है। संन्यास आन्तर और वाहर के भेद से दो

प्रकार का होता है। संन्यासाश्रम के अनुसार व्यवहार, वस्त्र आदि ठीक रीति से धारण किया जाय तो आन्तर संन्यास को मदद रूप होता है, मुख्य तो आंतर संन्यास ही है। आन्तर संन्यास रहित वाहर से संन्यास का चिह्न मात्र धारण करने से संन्यास का फल नहीं होता। वाहर के पदार्थों का त्याग करते हुए आंतर में इन पदार्थों का ग्रहण भाव वना रहा तव संन्यास कहां हुआ ? स्थूल शरीर सहित वाहर के संपूर्ण पदार्थों का त्याग तो विना किये ही मृत्यु समय में होजाता है, त्याग का फल नहीं होता इससे आंतर त्याग ही मुख्य है। सवका ग्रहण जिससे होता है ऐसा आंतर में वना हुआ देहाध्यास "मैं देह हूं" अथवा "देह मेरी है" इसका त्याग ही संन्यास है, वाहर से त्याग करते हुए भीतर में ग्रहण की जड़ वनी रही तो त्याग का फल नहीं होता इसीसे देह भाव का त्याग ही मुख्य संन्यास है।

जव आत्म वोध सहित "मैं देह नहीं हूं, मैं आत्मा हूँ" ऐसा निश्चय होता है तव समझना चाहिये कि ज्ञान हुआ। ज्ञान होते हुए भी देहाध्यास-देहासक्ति की निवृत्ति नहीं हुई है तो ज्ञान निष्फल है उसको ज्ञान नहीं कह सकते; देहाध्यास की निवृत्ति सहित आत्म तत्त्व में टिकना ज्ञान है।

धाता ध्यान ध्येय और ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय आदि सव त्रिपुटियों के वाध सहित प्रत्यगात्मा का परमात्मा से अभिन्न वोध होने का नाम ज्ञान है। देहाभिमान से ही जाग्रत का अभिमानी विश्व, स्वप्न का अभिमानी तैजस और कारण शरीर का अभिमानी प्राज्ञ है। देहाभिमान गलित होने से तीनों शरीर और उन शरीरों के अभि-

भानी का भाव भी नहीं होता। कभी भान होता है तब इस प्रकार समाधान करना चाहिये:—

स्थूल शरीरादिक का सम्बन्ध अकार से है, सूक्ष्म का उकार से सम्बन्ध है और कारण से मकार का सम्बन्ध है मैं तो अमात्र स्वरूप हूं इसीसे इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार तीनों शरीर और उनके विस्तार का आंतर से त्याग होता है, समष्टि और व्यष्टि सबका त्याग होकर अद्वय तत्त्व रह जाता है। जितने लोक हैं वे सब माया से भासित होते हैं मैं तो माया का अधिष्ठान होने से मुझमें लोकों का भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। मेरा स्वरूप कभी भी अज्ञान को प्राप्त हुआ ही नहीं था, वह स्वयं ज्योति ज्यों का त्यों सब में रहने वाला है। अज्ञान से बने हुए अज्ञानी ने ही सब उपद्रव खड़ा कर दिया था। मेरे में तो अज्ञान और अज्ञान का कार्य ही नहीं है तब ग्रहण और त्याग भी किस प्रकार बन सके? इस प्रकार स्वानुभव से प्रपंच का पूर्ण बोध होकर अखंड एक रस ब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति होती है। अद्वैत की सम्पत्ति ही ज्ञान है।

भगवा वस्त्र और योग पट्ट (नाम) धारण करके हाथ में दंड कमंडलु लेकर घूमने वाले ज्ञान रहित वेषधारी महावाक्य का पाठ करे तब भी स्वानुभव रहित उनका सब आचार व्यर्थ है वे मिथ्या ही शिखा सूत्र का त्याग करके भ्रमण करते हैं उनका भ्रमण संसार भ्रमण को निवृत्त करने वाला नहीं है। बन्धन के बोझे को बढ़ाने वाला ही है।

सदाचारमिमं नित्यं,
येऽनुसंदधते बुधाः ।
संसार सागराच्छीघ्रं,
मुच्यंते नात्र संशयः ॥५४॥

अर्थः—इस सदाचार (ग्रन्थ) का जो नित्य अनुसंधान करता है वह शीघ्र ही संसार सागर से मुक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

विवेचन ।

सत् स्वरूप जो परब्रह्म है उसका जिसमें वर्णन किया है, उसको प्राप्त करने का जिसमें उपाय दिखलाया है और प्राप्त करके किस प्रकार आचरण में लाना यह भी दिखलाया है ऐसा यह सदाचार ग्रन्थ है । मुमुक्षु पुरुषों को यह उपादेय है । शास्त्रकारों ने विवेकादि अधिकारी के लक्षणों का कथन किया है ऐसे लक्षणों से युक्त बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुष इस ग्रन्थ का अनुसंधान करने में समर्थ होता है । लौकिक ग्रन्थ के समान इस ग्रन्थ में दिखलाया हुआ तत्त्व का अनुसंधान नहीं होता, इसीसे कर्म उपासना करके जिसके मल और विक्षेप दोनों निवृत्त हुए हैं और विवेक वैराग्यादि से जो संपन्न है वह ही इससे परमपद को प्राप्त कर सकता है ।

जो कर्म अथवा उपासना का अधिकारी है उसको कर्म अथवा उपासना में लगना ठीक है क्योंकि ज्ञान का योग्य अधिकारी न होकर मलिन अन्तःकरण से ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त होने से ज्ञान प्राप्त नहीं होता इतना ही नहीं किन्तु कर्म मार्ग से हटकर

\

और ज्ञान मार्ग की सिद्धि न हो॰ ज्ञ-
कता आ जाती है क्योंकि वह आत्मा में आत्म बोध को न करके
आत्म बोध शब्द में ही रहता है, असंग हुए बिना मैं असंग हूं
ऐसा समझकर अधर्म में प्रवृत्त होकर नष्ट होता है।

यह अज्ञान को निवृत्त करके ज्ञान को प्रकाशित करने वाला ग्रन्थ है। ज्ञान का मार्ग तरवार के धार के समान है यानी नग्न तीक्ष्ण धार वाली तरवार के समान है जैसे जिसको तरवार चलाना आता नहीं है और जो अबुद्ध है ऐसे मनुष्य के हाथ में दी हुई तरवार से उसकी रक्षा नहीं होती और चंचलता से इधर उधर घुमाते ही अपने हाथ पैर को काट डालता है, तैसे ही अयोग्य के हाथ में ज्ञान का होता है। जगत् में जो पूर्ण आसक्त है ऐसे मनुष्य को वेदान्त श्रवण करने का अधिकार नहीं है क्योंकि वह विपरीत ग्रहण से दुर्गति को ही प्राप्त होता है। अज्ञानी तो अपने को अज्ञानी मानकर ज्ञान के योग्य होना चाहता है और वह मूढ़ जो अज्ञानी होकर भी अपने को ज्ञानी समझ रहा है, उसको यथार्थ ज्ञान होने की कोई संभावना नहीं है। ऐसे वाचक ज्ञानी के संसर्ग को श्वपच के समान त्यागना चाहिये।

योग्य अधिकारी पुरुष सद्गुरु की शरण में जाकर गुरु वाक्य में श्रद्धा रखकर स्वस्वरूप का अनुसंधान करता है इसीसे अज्ञान निवृत्त होता है और संसार रूप दुःखों का समुद्र है उसमें से तैर कर अपने आद्य स्वरूप को निःसंशय प्राप्त कर लेता है। वह ही बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनादि अविद्या का नाश करके परमपद को प्राप्त होता है।

॥ समाप्त ॥

अध्यात्म विद्या का अपूर्व भण्डार।

वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

महावाक्य—वेद के सब मन्त्र, वाक्य और अध्याय आस्तिक मनुष्यों के आचरण करने योग्य ही हैं परन्तु इन सबमें भी उपनिषदों का महावाक्य अपनी विशेषता ही रखता है। तत्त्व बोध को प्रत्यक्ष कराने के लिये महावाक्यों को छोड़कर अन्य कोई साधन नहीं है। ये शब्दरूप होते हुए भी शब्दातीत तत्त्व को अपने अभेद रूप से प्रत्यक्ष बोध कराने वाले हैं। ये अत्यन्त गूढ़ होते हुए भी इनकी इस पुस्तक में दृष्टान्त सहित सरल व्याख्या की गई है, जो अत्यन्त रोचक और हृदयस्पर्शी है जिससे सामान्य भाषा जानने वाले मुमुक्षु भी तत्त्व ग्रहण करके कृतार्थ हो सकते हैं।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का अनुभव भी इसमें भली प्रकार समझाया है। सजिल्द मूल्य रु० १)

उपनिषत् [५१]—इसमें भिन्न २ प्रकार की उपासना, ज्ञान के अपूर्व अनुभव तथा योग की रहस्यमय क्रियाओं का अनुभव युक्त वर्णन है। जो कार्य प्राचीन दस उपनिषत् से विलंब से होता है वही इससे बहुत सुलभता से होता है। ये उपनिषत् संस्कृत भाषा में होने से हिन्दी जानने वाले इनसे लाभ नहीं ले सकते, इसीसे वेदान्त केसरी में इनका सरल अनुवाद करके छापा जाता है, यह उसका ही संग्रह है। पुस्तकाकार छापने के पूर्व इसका अत्यन्त परिश्रम के साथ संशोधन भी किया गया है। मूल

के साथ मिलाने के लिये सुभीता रहे इस हेतु से यथा स्थान श्लोकांक भी दिये गये हैं। सुन्दर छपाई के ५५० के करीब पृष्ट की कपड़े की जिल्द का मूल्य केवल रु० २॥)

ब्रह्म सूत्र—शांकर भाष्य भाषानुवाद भाग १ (पूर्वार्ध)-उपनिषदों में आत्मज्ञान सम्बन्धी अनेक ऐसे कथन आये हैं जो ऊपर ऊपर से देखने में परस्पर विरोधी मालूम होते हैं। उनकी एक वाक्यता करके वैदिक तत्त्वज्ञान को विशुद्ध रूप से प्रकट करने के लिये भगवान् व्यास ने समन्वय रूप ये सूत्र लिखे हैं। इसके सम्पूर्ण उपलब्ध भाष्यों में शांकर भाष्य सब से अधिक प्रामाणिक माना जाता है, परन्तु अब तक हिन्दी में इसका शब्दशः अनुवाद नहीं हुआ है। इसी कमी को पूरा करने के लिये आधुनिक तथा प्रचलित भाषा में इसका अनुवाद किया गया है। आशा है हिन्दी भाषा भाषी इससे पूरा लाभ उठावेंगे। सजिल्द मूल्य रु० ३)

पंचकोश विवेक—पंचकोश के परदे से ढपे हुए आत्मा का स्पष्ट बोध नहीं होता; इसीसे उनको विस्तार सहित समझाकर आत्मा को दर्शा दिया है। पंचकोश का विवेक ही आत्मानात्म विवेक है। सजिल्द मूल्य १)

काया पलट नाटक—राजा, रानी और मंत्री के रूप से जीव बुद्धि और मनका जगत् आसक्ति में फंसना और सद्गुरु के उपदेश द्वारा अज्ञान टूट कर ज्ञान भाव में आने का वर्णन है। प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन है। मूल्य ।)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न भिन्न प्रकार से समझाया है उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—" भज गोविंदं भज गोविंदं " पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। सजिल्द मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १-२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वाक्य सुधा—वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थान पर है परंतु इसमें जैसा वर्णन है वैसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता। रहस्य पूर्ण विवेचन से भली प्रकार समझाया गया है मुमुक्षुओं को अत्यन्त हितकर है। सजिल्द मूल्य १)

वेदान्त दीपिका—इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्त्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रंथ

को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यन्त आनन्द होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्ति पूर्वक समझाकर उसको दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टांत दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रंथ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १॥)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य ॥)

सब पुस्तकों का डाकखर्च ग्राहकों को देना होगा। प्रचारार्थ बांटने के लिये तथा अधिक पुस्तकें खरीदने वाले बुक्सेलर आदि को कार्यालय से लिखा पढ़ी करना चाहिये।

व्यवस्थापकः—
वेदान्त केसरी बेलनगंज—आगरा।